निगमागम संस्कृति

(प्रतिमुद्रण)

व्रजवल्लभ द्विवेदी

जंगमवाड़ी मठ, गुदोलिया, वाराणसी

व्याधि-जराग्रस्त संस्कृत शिक्षा

देश में आजकल दो तरह की संस्कृत शिक्षा प्रचलित है—एक प्राच्य पद्धति की और दूसरी पाश्चात्य पद्धति की। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। प्राच्य पद्धति जहाँ शास्त्रों की प्रत्येक पंक्ति और पदों के रहस्यों को खोलने में समर्थ है, वहीं पाश्चात्य पद्धति शास्त्रों के क्रमिक ऐतिहासिक विकास के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवीण है। पहली शास्त्रों के अन्तरंग को समझने में अधिक समर्थ है, तो दूसरी बहिरंग को। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय, तो पहली पद्धति से प्रशिक्षित व्यक्ति सांख्यकारिका, तर्कभाषा और वेदान्तसार को अलग-अलग बड़े मनोयोग से पढा देगा, किन्तु यदि उससे इन तीनों ग्रन्थों के प्रतिपादित सिद्धान्तों का तुलनात्मक समालोचन प्रस्तुत करने के लिये कहा जाय, तो वह मानसिक तनाव में पड़ जायगा। इसी प्रकार दूसरी पद्धति से प्रशिक्षित व्यक्ति के सामने यदि किसी ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ाने की प्रार्थना की जाय, तो वह इस प्रसंग को अवश्य टाल जायगा।

पहली पद्धति संस्कृत भाषा के माध्यम से भाषण करने, शास्त्रार्थ करने, मूल ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी करने और संग्रहात्मक निबन्ध ग्रन्थों के लिखने का उत्कृष्ट प्रशिक्षण देती है, तो दूसरी पद्धति व्यक्ति को प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन की विशिष्ट विधि में, अनुसन्धान के माध्यम से इतिहास की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने में और विभिन्न शास्त्रों के समन्वित अध्ययन में प्रवीण बनाती है। यह सही है कि टीका-टिप्पणियाँ और संग्रहात्मक तथा समालोचनात्मक निबन्ध ग्रन्थों के माध्यम से सामयिक प्रश्नों के समाधान के रूप में शास्त्रों का उत्तरोत्तर विकास और पूर्वपक्ष के रूप में विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन भी फला-फूला है, किन्तु यह सब एक परिधि के भीतर हुआ है। नैयायिक हो या मीमांसक, वैयाकरण हो या वेदान्ती, बौद्ध हो या जैन—सभी दार्शनिक विद्वानों ने पूर्वपक्ष के रूप में अन्य मतों को उद्धृत कर उनका खण्डन प्रस्तुत करते हुए अन्त में अपने-अपने सिद्धान्तों की ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इनमें अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनका कि आधुनिक विज्ञान ने एक स्वरूप निश्चित कर दिया है। उदाहरण के रूप में सुवर्ण का तेजस्त्व, वायु का गुरुत्व, चक्षु का प्राप्यकारित्व, शब्द की नित्यता आदि विषय लिये जा सकते हैं। पण्डितसमाज इस प्रकार के विषयों पर अब भी शास्त्रार्थ करता और ग्रन्थ लिखता चला जा रहा है। प्राच्य पद्धति में शास्त्रों का खण्ड-खण्ड रूप में अध्ययन होता है, अखण्ड रूप में नहीं।

आज सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान के ही नहीं, अपितु पूरे विश्व के समान कोटि के ज्ञान के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन की और उसके आधार पर नवीन तर्कों और नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना की आवश्यकता है। यह कार्य उक्त दोनों पद्धतियों के समन्वित प्रयत्न के बाद ही सम्भव हो सकता है। प्रथम पद्धति में इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का उदय नहीं हो पा रहा है और दूसरी पद्धति वाले इस अथाह सागर में बिना प्रवेश किये लहरों के थपेड़ों से जो कुछ किनारे लग जाता है, उसी को बटोर कर सन्तोष कर लेना चाहते हैं। पहली पद्धति की शिक्षा संस्कृत पाठशालाओं, महाविद्यालयों और संस्कृत विश्वविद्यालयों में तथा दूसरी शिक्षा आधुनिक स्कूल, कालेज और युनिवर्सिटियों में मिलती है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद संस्कृत शिक्षा के भविष्य पर विचार करने की दृष्टि से भारत सरकार ने एक आयोग की स्थापना की थी। आयोग ने सर्वसम्मति से यह सुझाव दिया था कि वर्तमान समय में प्रचलित संस्कृत शिक्षा की दोनों पद्धतियों को नजदीक लाने का प्रयत्न अपेक्षित है। इसके लिये आयोग ने प्रथमतः यह सुझाव दिया था कि प्राचीन पद्धति के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में आधुनिक पद्धति से प्रशिक्षित और आधुनिक पद्धति के कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्राचीन पद्धति से प्रशिक्षित विद्वानों को प्रतीक रूप में नियुक्तियाँ की जाँय। यह प्राथमिक उपाय भी आज चरितार्थ नहीं हो पा रहा है।

प्राचीन पद्धति के विद्वान् नयी पद्धति की विशेषताओं को अधिक सरलता से हृदयंगम कर सकते हैं, इस अभिप्राय से मनीषिप्रवर स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द ने वाराणसी के राजकीय महाविद्यालय को संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप दिया था। यह देश का पहला संस्कृत विश्वविद्यालय था। जाने-अनजाने ब्राह्मण समाज को संस्कृत भाषा का वाहक मान लिया गया है। इस समाज के परिष्कृत होने के बाद ही संस्कृत भाषा की शिक्षण-पद्धति का भी परिष्कार हो सकता है, इस अभिप्राय से इन्होंने 'ब्राह्मण सावधान' लिखकर इस समाज में प्रविष्ट त्रुटियों की ओर इंगित किया, किन्तु रोग अधिक बढ़ चुका था। बिना इसका उपचार किये ही संस्कृत विश्वविद्यालय बना दिया गया। उसका फल हमारे सामने है।

भाषा को धार्मिक बाना पहनाना एक असंगत और आरोपित विचार है। दुर्भाग्य से भारत में संस्कृत और उर्दू भाषा को इसी दृष्टिकोण से देखा जाने लगा है। इससे अनेक असंगतियाँ पैदा हो गई हैं। सबसे बड़ी असंगति यह

है कि दुनिया की सबसे पुरानी भाषा को सबसे नवीन भाषा के साथ एक ही तराजू पर तौलने की कोशिश की जाती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिये यह एक विडम्बना है। उपनिषदों के विश्वबन्धुत्व की, बुद्ध की महाकरुणा और महावीर की तपस्या की भावना की वाहिका यह भाषा आज विश्व-भाषा है। किसी संकीर्ण विचारधारा का वर्चस्व इस पर कथमपि मान्य नहीं होना चाहिये। संस्कृत भाषा त्याग और तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय की प्रतीक मानी जाती है। संस्कृत विश्वविद्यालय के संस्थापक की ही नहीं, समाज की भी यह आकांक्षा थी कि संस्कृत विश्वविद्यालय के माध्यम से भारतीय समाज में ये गुण पुनः प्रतिष्ठित होंगे, किन्तु हुआ इसके विपरीत है।

वैदिक कर्मकाण्डियों ने दो नये मन्त्रों की उद्भावना की है। एक है— "छोरा रे वासन्ता, घी लेकर खिसकन्ता, स्वाहा"। पुरोहित का बटुक धुएँ से भरे यज्ञमण्डप से घी का कनस्तर लेकर चम्पत होने लगता है, तो उस पर एक ऋत्विक् की दृष्टि पड़ जाती है। अब पुरोहित जी दूसरा मन्त्र बोलते हैं— "तवार्धं च ममार्धं च विघ्नं मा कुरु पण्डित ! स्वाहा"। सब ठीक-ठीक चलने लगता है। संस्कृत विश्वविद्यालय आज इसी मनोवृत्ति का शिकार है। कोई टोकने वाला नहीं है, तो पुरोहित अपनी मनमानी करता है। यदि कोई बीच में आ धमका तो "तवार्धं च ममार्धं च" होने लगता है। संस्कृत विश्व-विद्यालय में अनुसन्धान संस्थान की स्थापना का मुख्य उद्देश्य उक्त दोनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करना रहा है, किन्तु 'तवार्धं च' के चक्कर ने उसको कभी संभलने ही नहीं दिया। कभी-कभी इस संस्थान को उखाड़ फेंकने की भी चर्चा चल पड़ती है। आज संस्कृत विश्वविद्यालय का अनुसन्धान और प्रकाशन दिशाहीन चल रहा है। अनेक व्याधियों से घिरी इसकी शिक्षण-पद्धति भी आज जराजीर्ण हो चुकी है। इसमें न तो प्राचीन पाण्डित्य को सुरक्षित रख सकने का सामर्थ्य ही शेष रहा है और न यहाँ पर आधुनिक अनुसन्धान पद्धति का पौधा ही पनपने पा रहा है। चारों तरफ अर्थ का पैशाचिक अट्टहास मात्र सुनाई देता है।

दैनिक 'आज' के प्रातःकालीन संस्करण में 'अग्निवेश' जी के आयुर्वेद की शिक्षा से सम्बद्ध सामयिक, वस्तुनिष्ठ और विचारोत्तेजक तीन लेख प्रकाशित हुए हैं। आयुर्वेदिक स्नातकों की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए इन्होंने आर्थिक विषमता को भी इसके लिये दोषी बताया है। आज संस्कृत विश्व-विद्यालय के प्राध्यापकों के सामने यह समस्या नहीं है। उनको वही वेतनमान

मिलते हैं, जो कि किसी अन्य विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों को। इसके उपरान्त भी वे निरन्तर अर्थचिन्ता में ही डूबे रहते हैं। सुरभारती की आराधना के लिये उनको केवल भाषण-मंच पर ही समय मिलता है। वह संस्कृत पाठशालाओं के अभावग्रस्त विद्वानों को परीक्षक तक नहीं बनने देता और कार्यकारिणी के, जिसका कि वह स्वयं सदस्य रहता है, इस प्रस्ताव का कि किसी भी परीक्षक को ५०० रु० से अधिक का परीक्षा-पारिश्रमिक न दिया जाय, चार-पाँच टुकडों में अलग-अलग अपना बिल बनाकर हजार, डेढ़ हजार, दो हजार रुपये तक उदरस्थ कर स्वयं मखौल उड़ाता है। ऐसे किसी भी आर्थिक अवसर को अपने घेरे से बाहर के व्यक्ति को लाभान्वित न होने देने के लिये वह निरन्तर कटिबद्ध रहता है।

संस्कृत विश्वविद्यालय ही क्यों, पूरा संस्कृत समाज आज इस व्याधि से ग्रस्त है। राजा-महाराजों, सेठ-साहूकारों और मठाधीशों के द्वारा चलाई जा रही संस्कृत पाठशालाएँ और अन्नसत्र बन्द हो चुके हैं या बन्द होते चले जा रहे हैं। उनकी एवज में उनके व्यवस्थापकों के भवन उठ खड़े हुए हैं। काशी के बड़े-बड़े मठों में अब गिने-चुने ऐसे मिलेंगे, जिनमें कि किरायेदार न बसा दिये गये हों। संस्कृत पाठशालाओं की सरकारी सहायता में इधर उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, किन्तु यह सारा धन छात्रों और अध्यापकों के नाम पर व्यवस्थापकों के पेट में चला जाता है। इस प्रकार की ५० प्रतिशत पाठशालाओं का अस्तित्व कोरे कागजों पर है। आज अग्निहोत्र जैसा पवित्र धार्मिक अनुष्ठान वैदिकों के यात्रा के झोले के साथ घूमता है। कहीं भी सम्पन्न होने वाले धार्मिक अनुष्ठान की वरणी उस ब्राह्मण को मिलती है, जो कि मिलने वाली दक्षिण का आधा भाग मुख्य पुरोहित को अर्पित करने का वचन दिये रहता है।

चरित्र और नैतिकता के धनी ये व्यक्ति भाषण-मंच से भारतीय संस्कृति के संरक्षक के रूप में अपने को उपस्थापित करते हैं। कहा जाता है कि भारतीय दूतावासों में इनकी नियुक्ति होनी चाहिये। तभी विदेशों में भारतीय संस्कृति के सही रूप का दर्शन हो सकेगा। कुछ लोगों का यह भी विचार था कि देश के आधुनिक विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता का मुख्य कारण वहाँ संस्कृत शिक्षा को कोई स्थान न दिया जाना है। संस्कृत विश्वविद्यालय के नये छात्रों ने उनका मोह भंग कर दिया है। नैतिक मूल्यों का सर्वाधिक ह्रास आज संस्कृत समाज में ही हुआ है। धर्मशास्त्र का विद्वान् ५ रु० की दक्षिणा लेकर एक प्रकार की व्यवस्था देता है। दूसरे पक्ष से १० रु० मिल जाने पर वह अपनी ही पहली व्यवस्था के विपरीत दूसरी व्यवस्था देने में

कोई सङ्कोच नहीं करता। शास्त्र तो अथाह सागर है। गहरी डुबकी मारने पर सभी कुछ उसमें से निकल आता है।

देश की स्वतन्त्रता के संघर्ष में इस तथाकथित संस्कृत समाज ने कोई सहयोग नहीं दिया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो इसमें है कि यह समाज अपने धार्मिक मन्तव्यों के प्रति भी आस्थाहीन है। हैदराबाद में तोड़े जा रहे मन्दिर की रक्षा इस संस्कृतजीवी समाज ने नहीं, आर्यसमाजियों ने की थी। वाराणसी की जनता इसको भूली नहीं होगी कि स्वामी करपात्री जी के चलाये धार्मिक आन्दोलनों के अवसर यह समाज सदा पीछे के दरवाजे से पलायन करता रहा है और जहाँ दक्षिणा पाने का अवसर था, वहाँ सब से आगे रहा है। संस्कृत विश्वविद्यालय के एक हजार से ऊपर वेतन पाने वाले विभागाध्यक्ष दो रुपया की दक्षिणा सभा के लिये अपना पूरा दिन बर्बाद कर देने के लिये सदा तत्पर रहते हैं। यों तो पूरे भारत में ही आज नैतिकता का अवमूल्यन हो चुका है, उसी का यह परिणाम है कि देश को ओलम्पिक खेल जैसी विश्व-प्रतियोगिता के अवसरों पर मात्र कांसे के एक तमगे पर सन्तोष करना पड़ता है। देश ने योग्यता का आदर करना छोड़ दिया है। सभी जगह भाई-भतीजावाद का बोलबाला है। किन्तु दूसरी जगह वह दम्भ नहीं है, जो कि इस संस्कृत समाज को सर्वात्मना दबोचे हुए है। इसके रहते क्या संस्कृत समाज 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' अथवा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इस मनुवाक्य का उद्घोष करने का सामर्थ्य अर्जित कर सकेगा? क्या हम आशा करें कि मनीषिप्रवर डॉ० सम्पूर्णानन्द के द्वारा स्थापित यह विश्वविद्यालय उक्त व्याधियों से जर्जर संस्कृत शिक्षा में नये जीवन का सञ्चार कर सकेगा? क्या यह विश्वविद्यालय देश में नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना के पावन कर्तव्य में अपना भी कुछ अंशदान कर सकेगा?

यह तभी सम्भव होगा, जब कि संस्कृत शिक्षा को सङ्कीर्ण घेरे से बाहर निकाला जाय। आधुनिक संस्कृत समाज में नहीं, संस्कृत भाषा में वह सामर्थ्य अभी भी है। इस सामर्थ्य के उद्बोधन की दिशा में क्या संस्कृत विश्वविद्यालय की विद्वत्परिषद् और शिष्ट परिषद् के सदस्यगण प्रयत्नशील होंगे[1]?

●

१. दैनिक 'आज' ११-९-७२ के अंक में प्रकाशित।

क्या संस्कृत शिक्षा संकीर्णता से बाहर निकल सकेगी ?

संस्कृत शिक्षा के भविष्य पर विचार करने से पहले देश में प्रचलित सामान्य शिक्षा पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। इस देश में अंग्रेजों के पैर जमाने से पहले शिक्षा का प्रधान स्रोत संस्कृत भाषा ही थी। विगत दो-तीन शताब्दियों में ज्ञान-विज्ञान का आश्चर्यजनक विकास हुआ है, किन्तु उस समय तक संस्कृत भाषा में निबद्ध ज्ञान-विज्ञान से ही देश अपना काम चलाता था और अनेक क्षेत्रों में विश्व की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ इसमें सुरक्षित थीं। पिछले एक हजार वर्षों में इसका ह्रास अधिक हुआ, विकास कम। फलतः देश पराधीन हो गया। इतना अवश्य हुआ कि इस कठिन काल में भी देश ने अपनी इस थाती को यथाशक्ति सुरक्षित रखा। अपनी इस निधि पर देश को गर्व था।

देश में पाश्चात्य पद्धति की शिक्षा प्रचलित होने के बाद इस सुरक्षित निधि पर हमारी आस्था कम होने लगी। देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी हमारी यह अनास्था कम नहीं हुई, बढ़ी ही है। इस पुरातन ज्ञान-विज्ञान से नवीन ज्ञान-विज्ञान को जोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। यह सही है कि ज्ञान-विज्ञान की अनेकों शाखाओं का विश्व में इदम्प्रथमतया उन्मेष हुआ है और होता जा रहा है, उनको वैदिक मन्त्रों से खोज निकालना बुद्धि के व्यायाम से अधिक कुछ नहीं माना जायगा। इस प्रकार के प्रयत्न उक्त अनास्था के बढ़ाने में केवल सहायक ही नहीं होते, अपितु सही प्रयत्नों के मार्ग में बाधा भी डालते हैं। फलतः देश का सुरक्षित ज्ञान भण्डार उपेक्षित पड़ा है और बाहर से आयातित ज्ञान उस पर हावी होता जा रहा है।

उदाहरण के लिये हम हिन्दी साहित्य को ही लें। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल के काल तक यह संस्कृत भाषा से प्रेरणा लेता रहा है, किन्तु आज स्थिति इसके विपरीत है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का केवल संस्कृत से ही नहीं, पूरे भारतीय वाङ्मय से सम्बन्ध टूटता जा रहा है। रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के बाद संस्कृत के विद्वानों की प्रतिभा तो कुण्ठित हो ही चुकी थी, हिन्दी में भी रामचन्द्र शुक्ल की प्रतिभा का धनी कोई दिखाई नहीं दे रहा है, जो कि भारतीय साहित्य-

शास्त्र को परम्परानुगत अथवा स्वतन्त्र नया चिन्तन दे सके। हिन्दी साहित्य की दशा तो आज इतनी खराब हो गई है कि वह आयातित ज्ञान की नकल में मगन हो अपने पुराने कवियों को समझ पाने की शक्ति भी खोता जा रहा है। काशी के श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे हिन्दी भाषा के प्रौढ़ मर्मज्ञ विद्वान्, आज उपेक्षित हो चुके हैं। संस्कृत से हिन्दी का आज इतना ही सम्बन्ध रह गया है कि संस्कृत के छटके विद्वान् वहाँ जाने पर आचार्य मान लिये जाते हैं। यहाँ आकर प्रगतिशील बनने की धुन में ये आचार्यगण पुरातन से अपने चूल्हे-चक्की तक का ही सम्बन्ध रख पाते हैं। चार-छः जगह से झपट्टा मार कर मौलिक ग्रन्थलेखक बनने की आधुनिक भारतीय लेखकों की दुराकांक्षा भारतीय साहित्य को दुनिया के उत्कृष्ट ज्ञान-ग्रन्थों के सही अनुवाद से भी वंचित करती रही है। ऊँचे स्तर की डाका डालने की इस प्रवृत्ति को समाज जब तक पुरस्कृत करता रहेगा, तब तक भारतीय वाङ्मय का भविष्य अन्धकारमय ही रहेगा।

भारत में ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में पुरातन ज्ञान को नये ज्ञान से जोड़ना आज प्रतिगामी कदम माना जाने लगा है। फलतः नवीन ज्ञान की उन शाखाओं का भी सम्बन्ध संस्कृत भाषा से छूटता जा रहा है, जिनका कि प्रभूत साहित्य यहाँ विद्यमान है। संगीत, नृत्य जैसी कलाओं और थोड़ा बहुत दर्शनशास्त्र को छोड़ आज पूरा भारतीय वाङ्मय उपेक्षित पड़ा है। सर्वत्र पुरातनवादियों और आधुनिकता-प्रेमियों के दो दल बन गये हैं। आज कालिदास की इस उक्ति को—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"

भुला दिया गया है। पुरातनवादियों का कहना है कि सर्वज्ञ ऋषि-मुनियों ने हमें जो कुछ ज्ञान दे दिया है, उसमें नया कुछ जोड़ने की शक्ति आज के पामर मानव में नहीं है और आधुनिकतावादी इस पुरानी थाती को फूटी आँख देखना नहीं चाहता। फलतः ऐसा कोई कोणबिन्दु नहीं दिखाई पड़ता, जहाँ पर इनके मिलने की सम्भावना हो। ऐसी परिस्थिति में आधुनिक भारतीय शिक्षा का यहाँ की प्राचीन शिक्षा पद्धति से किसी भी प्रकार का लगाव कैसे सम्भव हो सकता है? प्राचीनतावादी भी बात तो पुराने शास्त्रों की करते हैं, किन्तु उनका आत्मविश्वास डिग चुका है। आज कल आयुर्वेदाचार्य डाक्टर कहलाना पसन्द करता है। शिक्षाशास्त्री बी० एड० लिखना अधिक आवश्यक समझता है और संस्कृत विश्वविद्यालय के स्नातक तथा प्राध्यापक विद्यावारिधि

और वाचस्पति कहलाने की अपेक्षा अपने नाम के आगे पीएच० डी० और डी० लिट्० लिखने में अधिक गौरव का अनुभव करते हैं। इसके लिये विश्वविद्यालय के नियमों में आवश्यक सुधार भी करवा लिये गये हैं।

ज्ञान और विज्ञान को देश तथा काल की सीमा में बाँधना उचित नहीं है। यह तो पूरे विश्व की सदा-सर्वदा के लिये थाती है। आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को आज हमें भी उसी मनोवृत्ति के साथ ग्रहण करना चाहिये, जिस प्रकार कि प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने यवनों को ऋषितुल्य पूज्य मानकर उनसे विद्या को ग्रहण किया था। भारतीय अंकविज्ञान और उसकी दशमलव पद्धति आज पूरे विश्व की थाती है। इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अन्तिम तथ्य पूरे विश्व की थाती बनेगा। उसको अंगीकार करने से पहले इसकी परीक्षा आवश्यक है। नवीन ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करते समय हमें अपने पुरानी थाती को संभालना होगा। हमको यह विचारना पड़ेगा कि हम कहाँ तक पहुँच सके हैं और अब कहाँ से आगे बढ़ना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि बाह्य ज्ञान-विज्ञान को पचा सकने और भारतीय वातावरण के प्ररिप्रेक्ष्य में उसको नया स्वरूप दे सकने की सामर्थ्य हम अर्जित कर सकें। राजनीति, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, खगोल और भूगर्भशास्त्र आदि प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में दोनों पद्धतियों के समन्वित गंभीर अध्ययन के उपरान्त अपने देश के जलवायु के अनुकूल निर्मित एक समन्वयात्मक शिक्षापद्धति ही भारत के युवकों को सही दिशानिर्देश कर सकती है। क्या हम राजनीति से ऊपर उठकर पूरे देश के हित में एक समन्वित शिक्षाप्रणाली के विकास की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे ?

जब पूरी भारतीय शिक्षापद्धति ही भ्रम-जाल में फँसी हुई है, तो ऐसी परिस्थिति में संस्कृत शिक्षा उससे मुक्त कैसे हो सकती है ? पूरी भारतीय शिक्षापद्धति की इन समस्याओं के साथ संस्कृत शिक्षा की अपनी समस्याएँ अलग से जुड़ी हुई हैं। आज की प्राचीन प्रणाली की संस्कृत शिक्षा-पद्धति पर पतनोन्मुख वैदिक कर्मकाण्डीय संस्कृति और निर्वाणोन्मुख (बुझने जा रही) बौद्ध मठीय संस्कृति का गहरा प्रभाव है। संस्कृत पाठशालाओं से लेकर संस्कृत विश्वविद्यालयों तक में पहली संस्कृति का तथा मठों-मन्दिरों में दूसरी का प्रभाव यत्र-तत्र देखा जा सकता है। बौद्ध मठीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली तान्त्रिक वाङ्मय की कुछ शाखाओं में कुछ शब्दों का आध्यात्मिक रहस्यात्मक विशिष्ट अर्थ बताया गया है। इस पर शंका उपस्थित

करना मात्र अपने अज्ञान को मुखरित करना होगा। हमें सोचना इतना ही है कि आज व्यवहार में क्या हो रहा है ? भोग का जितना बीभत्स वर्णन इन शास्त्रों की शाखाओं में मिलता है, वहाँ तक शायद आजकल का पाश्चात्य हिप्पी-समाज अभी तक नहीं पहुँच पाया है। इसी के कारण देश एक हजार वर्ष तक परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा तड़फड़ाता रहा है। यह देश की नैतिकता के ह्रास का काल था।

संसार का सर्वोत्कृष्ट औपनिषद ज्ञान गृहस्थ ऋषि-मुनियों और नृपतियों की संचित निधि है। वैदिक वाङ्मय वृद्धावस्था में ही संन्यासाश्रम का विधान करता है। मनोविज्ञान और चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण से सर्वथा विपरीत बौद्ध मठीय संस्कृति के ये अवशेष अपने वर्तमान रूप में क्या समाज का कुछ हितसाधन कर रहे हैं ? इस प्रश्न पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिये।

इस प्रसंग में विदुरनीति के निम्न दो श्लोक स्मरण हो आते हैं—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति॥

अर्थात् पूजा (यज्ञ-यागादि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और अलोभ ये आठ धर्म के मार्ग हैं। इनमें पहले चार मार्गों का उपयोग दम्भ (पाखण्ड) के लिये भी किया जा सकता है, किन्तु अन्तिम चार का अनुसरण केवल महात्मा पुरुष ही कर सकते हैं।

आज उक्त दोनों संस्कृतियों में दम्भ-धर्म का ही प्राधान्य परिलक्षित होता है। उत्तर चतुर्वर्ग का पालन करने वाले कितने महात्मागण आज इस समाज में हैं ?

कोढ़ में खाज के समाज संस्कृत समाज में बाह्य संस्कृति की संकीर्णता और असहिष्णुता का रोग और आ घुसा है। आज संस्कृत जगत् में भी अखिल भारतीय भावना नष्ट होती जा रही है। सर्वत्र स्थानीय समुदाय बाहरी प्रवेश को अवांछनीय मानता है और इसको रोकने के लिये निरन्तर सचेष्ट रहता है। काशी में इस रोग की जड़ें अधिक गहरी हैं। एक समुदाय में जन्म लेते ही बालक शास्त्री बन जाता है। निरक्षर भट्टाचार्य रहते हुए भी यह अपने वर्ग के विद्वत्समाज में ऊँचा स्थान पाता है। इसके विपरीत

दूसरे वर्ग में आचार्यगणों की सृष्टि होती है। शास्त्रार्थ-सभा आदि में समय-कुसमय में एक दूसरे वर्ग के बड़े से बड़े विद्वान् को अपमानित कर देना इनके लिये गौरव का विषय है। संसारत्यागी काशी का साधु-समाज भी इस संकीर्ण वर्गसंघर्ष की भावना से विरत नहीं है। इसका कहाँ अन्त होगा ?

संस्कृत शिक्षा का, भारतीय संस्कृति का, उक्त दोनों दृष्टिकोणों से भिन्न एक तीसरा दृष्टिकोण भी है, जो कि वेद और उपनिषद् के, बुद्ध और महावीर के उदात्त उपदेशों के तथा इतिहास, पुराण और आगमशास्त्र की समन्वयात्मक उदार विचारधारा के बीच पनपा है। काशी इस उदात्त दृष्टिकोण का भी प्राचीनकाल से ही प्रतिनिधित्व करती रही है। आद्य शंकराचार्य के अज्ञान को काशी के एक चाण्डाल ने दूर किया था। रामानन्द और कबीर की कर्मभूमि काशी ही रही है। अभी हाल में भारतरत्न डॉ० भगवान्‌दास, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द और श्री श्रीप्रकाश ने इसी दृष्टिकोण को उद्‌बुद्ध करने का प्रयत्न किया है और म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, श्री गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी, प्रो० मुकुटबिहारी लाल, प्रो० राजाराम शास्त्री जैसे विद्वद्‌गण भारतीय संस्कृति की इस विशिष्ट धारा को आगे बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील हैं। क्या आधुनिक संस्कृत शिक्षा अपनी दोनों संकीर्ण धाराओं से बाहर निकल कर इस प्रशस्त पथ की ओर मुड़ने में समर्थ होगी ?

संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का अब तक अटूट सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध के टूटने की आशंका उपस्थित हो गई है। यह तभी निर्मूल हो सकती है, जब कि संस्कृत भाषा का सम्बन्ध धर्म की अपेक्षा संस्कृति से अधिक गहरा किया जाय[1] ॥

●

---

१. दि० ३०-९-७२ के दैनिक 'आज' में प्रकाशित।

सांस्कृतिक नवचेतना का अरुणोदय

भारत के पूरब में बंगलादेश के रूप में हुआ भारत की समन्वयात्मिका संस्कृति के आकाश में नवचेतना का अरुणोदय आज पूरे विश्व को नवजागरण का संदेश सुना रहा है। इस नवचेतना का संचार करने वाले महात्मा गांधी आज यशःशरीर हैं। उनकी नोआखाली की यात्रा आज फलीभूत हो रही है। इस अरुणोदय का शंखनाद फूंकने का एकमात्र श्रेय शेख मुजीबुर्रहमान को दिया जा सकता है।

लक्ष्मीवाहनों को अरुणोदय कभी पसन्द नहीं आया है। आधुनिक विश्व के संरक्षक होने का दावा करने वाले दो बड़े देश इस अरुणोदय से घबड़ा उठे हैं। कागजी और इण्टरप्राइजी नकली बादलों से वे इसको ढक देना चाहते हैं। उनको यह नहीं मालूम कि जिनके दिलों में आन्तरिक शक्ति उद्बुद्ध हो चुकी है, उनका बड़ी से बड़ी दानवी शक्ति भी कुछ बिगाड़ नहीं सकती। दिल्ली के रामलीला मैदान में संगीतमय लय में गाये गये गीत की प्रत्येक मूर्छना से इस राष्ट्र के कण-कण में इस आन्तरिक शक्ति के उद्वेलित हो उठने की स्पष्ट अभिव्यक्ति को आंकने की क्षमता केवल अभिधा की भाषा को ही बोल-समझ पाने वाले विश्वसंस्कृति के इन नये ठेकेदारों में शायद नहीं है।

रक्षामन्त्री श्री जगजीवन राम के कथनानुसार इस देश की संस्कृति तीन हजार वर्ष पुरानी है। आधुनिक विश्व इससे पुरानी इसको मानने को तैयार नहीं है, इस उक्ति का केवल इतना ही अभिप्राय है। इतना तो स्पष्ट ही है कि इससे पुरानी जो संस्कृतियां और सभ्यताएँ थीं, वे आज विद्यमान नहीं हैं और विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में जो आज विद्यमान हैं, उनमें यही सबसे प्राचीन है। युद्धबन्दियों के संबन्ध में आज जेनेवा समझौते की चर्चा की जाती है। हमारे स्थलसेनाध्यक्ष भी जब शत्रु को हथियार डाल देने की सलाह देते हैं, तो इसी समझौते की दुहाई देते हैं। वे भूल जाते हैं कि भारतीय संस्कृति में युद्धबन्दियों के साथ सद्व्यवहार की परम्परा बहुत पुरानी है। जेनेवा समझौते के जनक राष्ट्र अभी इससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। आधुनिक सभ्य विश्व अभी तो जेनेवा समझौते का भी पूरी तरह से पालन कर पाने में अपने को असमर्थ पाता है। यह जेनेवा समझौते का नहीं, भारतीय संस्कृति का प्रभाव है कि बंगला देश में युद्ध बन्द हो जाने के बाद एक लाख युद्धबन्दी

पूरी तरह से सुरक्षित हैं और सरकार के इस निर्णय को भारतीय जनता का पूरा समर्थन प्राप्त है।

प्रसंगवश यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि पृथ्वीराज चौहान ने अपने शत्रुओं को अनेक बार क्षमादान किया था, किन्तु उसका अन्त में क्या हुआ हुआ ? जनाब जुल्फीकार अली भुट्टो साहब हिन्दुस्तान के साथ एक हजार साल तक जंग करने की बात कहते रहते हैं। आकाशवाणी इसका मजाक उड़ाती है। ऐसा करते समय हम भूल जाते हैं कि जो चीज उनको यह कहने के लिये प्रेरित करती है, उस भावना ने एक हजार वर्ष तक भारतीय संस्कृति से युद्ध किया है और आधुनिक सभ्य संसार का मानस यदि परिष्कृत नहीं होता, तो भुट्टो साहब का कहना कोई गलत बात नहीं है। इतिहास की पुनरावृत्ति तो नहीं होती, किन्तु उससे शिक्षा तो ग्रहण की ही जा सकती है।

सम्राट् हर्ष के बाद भारतीय संस्कृति का तेज घटने लगा था। भगवत्पाद शंकराचार्य भी इसके घटते तेज को रोक न सके। किसी आधुनिक विचारक ने लिखा है कि पैगम्बर मुहम्मद साहब और शंकराचार्य का आविर्भाव लगभग एक ही समय में हुआ। आगे के वर्षों में इसलाम ने विश्वविजय की, किन्तु भारत अपनी स्वतन्त्रता को भी सुरक्षित न रख सका। ऊपर से देखने में यह आक्षेप सही मालूम होता है, किन्तु इस प्रसंग में हमको भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय के दो श्लोक याद आते हैं, जिनमें कि सात्त्विक और राजस सुख की व्याख्या की गई है। किसी समय बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था, किन्तु शंकराचार्य के समय तक उसकी जीवनी शक्ति समाप्त-प्राय हो गई थी। अतः शंकराचार्य ने तत्कालीन विभिन्न सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित कर स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की। वैष्णव आचार्यों और सन्तों के अमृत-मय उपदेशों से सिंचित हो यह नयी संस्कृति फली-फूली और इतिहास इस बात का साक्षी है कि इसी संस्कृति की छत्रछाया में भारतवर्ष ने अपनी आत्मा को मरने नहीं दिया और इसलाम धर्म में भी सहिष्णुता के बीच बोये। इसके विपरीत शंकराचार्य के काल में लड़खड़ाता बौद्ध धर्म इसलाम के आक्रमण को सह न सका और इस प्रकार अपने मूल देश से एक प्रकार से उच्छिन्न हो गया। इसलाम की असहिष्णुता कहीं-कहीं पाशविक क्रूरता के रूप में उभड़ी है। इसका ताजा उदाहरण बंगला देश में देखा जा सकता है। यह दोष इसमें कहाँ से आया, इसका अन्वेषण करने की अपेक्षा, अब इसमें परिष्कार की आवश्य-कता है। यदि इसलाम में धार्मिक उन्माद अब भी बना रहा तो नये विश्व के निर्माण में इसका कोई भविष्य नहीं रह जायगा। नये विश्व का गठन विश्वधर्म

और विश्वसंस्कृति के आधार पर होगा और इस विश्वसंस्कृति के निर्माण में भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंशदान होगा। नये विश्व के निर्माण में इसलाम पिछड़ता जा रहा है और शंकराचार्य के समय के बाद से निस्तेज हो रही भारतीय संस्कृति आज इसलाम के अनुयायियों को उन्हीं की क्रूरता से बचा रही है। यही गीता का वह सात्त्विक सुख है, जिसका कि वर्तमान कष्टमय होते हुए भो भविष्य उज्ज्वल रहता है। भारतीय संस्कृति की यह नवचेतना अभिनन्दनीय है। इसके प्रातःकालीन मंगलमय भेरीनिनाद से पीकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी आज कांप उठी है।

पीकिंग आधुनिक विश्व के, विशेष कर पाकिस्तान जैसे भारत के पड़ोसी देशों के सामने बृहत्तर भारत का हौवा खड़ा करना चाहता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत इसलाम की तरह कहीं तलवार लेकर नहीं गया। भारत का संदेश सुख, समृद्धि, शान्ति और सर्वोपरि परम शान्ति का रहा है। यह संदेश चीन और जापान को भी सुनाया गया था। उसको भुलाकर चंगेज और हलाकू के उत्तराधिकारी माओ के चीन ने कुछ वर्ष पहले तिब्बत में वहाँ की संस्कृति और मानवता को उसी प्रकार कुचला था, जैसे कि नादिरशाह के वंशज याहिया के दरिन्दों ने बंगला देश में अभी किया। बंगला देश की आवाज तो हम सुन सके, किन्तु हमारी अकर्मण्यता और बुजदिली के कारण तिब्बती मानवता की करुण चीत्कार विश्व की कर्णशष्कुली से टकरा कर आकाश में लीन हो गई। कुछ हजार तिब्बतियों को भारत में शरण मिल सकी, किन्तु हम उनको एक हजार वर्ष पूर्व के भारत में रखना चाहते हैं। इनको गंगा की पवित्र धारा के समान सतत प्रवहमान भारतीय संस्कृति एवं गांधीवाद का परिचय न करा कर और स्वतन्त्र तिब्बत से इनका ध्यान हटाकर यदि भारत में मार्क्सवाद की पृष्ठभूमि में एक हजार वर्ष पूर्व के बौद्ध धर्म के पुनरुज्जीवन की शिक्षा दी गई, तो यह तिब्बत और भारत दोनों ही देशों के साथ भारी गद्दारी होगी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में एक ऐसा वर्ग पनप रहा है, जिसको भगवद्गीता का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ने की और धम्मपद के नाम पर पुलकित हो उठने की आदत पड़ गई है। बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद में ही इनको विश्वशान्ति का संदेश सुनाई देता है। किसी शायर ने लिखा है—मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना। किन्तु धर्मों का इतिहास द्वेष, घृणा, क्रूरता और रक्तपात से रंगा हुआ है, भारतीय संस्कृति की यह देन है कि वह आपस में बैर रखने की नहीं, सुहृद्भाव से रहने की शिक्षा

देती है। मार्क्सवाद की सारी इमारत वर्ग-संघर्ष पर खड़ी है। एक संघर्ष दूसरे संघर्ष को ही जन्म दे सकता है, शान्ति को नहीं। आज गांधीवाद पर आधारित भारतीय संस्कृति ही विश्व को शान्ति का संदेश दे सकती है, जिसको कि न किसी धर्म से द्वेष है और न किसी वाद से कोई गिला। सभी धर्मों में सहिष्णुता और वादों में समन्वय स्थापित करना इसका पहला काम है।

गांधीवाद के आधार पर देश को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया था, किन्तु हमारी परराष्ट्रनीति धर्म पर ही आधारित रही है। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से हम बौद्ध धर्म के आधार पर और पश्चिम एशिया के देशों से इसलाम के आधार पर संबन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। अभी हाल के भारत-पाक संघर्ष ने इस नीति की असफलता को पुनः उजागर कर दिया है। आज का विश्व धर्म की नहीं, शक्ति की भाषा को जानता है। एक राष्ट्रीयता और अखण्ड भारतीय संस्कृति के आधार पर ही आज हम विश्व में अपनी स्थिति बना सकते हैं, जिसके कि प्रवक्ता महात्मा गांधी हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में १०४ राष्ट्रों ने हमारे विरोध में मत दिया, इसका कोई महत्त्व नहीं है। महाभारत काल में भरी सभा में द्रौपदी के साथ जब असद्-व्यवहार किया जा रहा था, तब पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण इस घटना के मौन दर्शक बने हुए थे। द्रौपदी की फटकार का उनके पास कोई जवाब नहीं था। विश्व की नैतिकता महात्मा गांधी के समान अभी इतनी उद्‌बुद्ध नहीं हुई है कि वह बिना किसी स्वार्थ के सब जगह अन्याय का प्रतीकार कर सके। १०४ राष्ट्रों ने अमेरिका अथवा पाकिस्तानी पक्ष का समर्थन किया, यह भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। इस प्रसंग में संस्कृत का एक श्लोक याद आता है। उसका अभिप्राय है कि खल और सज्जन की मित्रता दिन के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की छाया के समान है। दिन के पूर्वार्ध में किसी वस्तु की छाया पहले बड़ी प्रतिबिम्बित होती है और धीरे-धीरे घटती जाती है। इसके विपरीत उत्तरार्ध की छाया पहले छोटी होती है, किन्तु वह आगे बढ़ती जाती है। भारत के मित्रों की संख्या अभी भले ही कम हो, यह निश्चित है कि धीरे-धीरे वह अवश्य बढ़ती जायगी।

इसके लिये सबसे पहली आवश्यकता है, अपनी परराष्ट्र नीति में त्वरित परिवर्तन की। धर्म के आधार पर इसका संचालन तुरन्त बन्द होना चाहिये। वर्तमान परिस्थिति में इसराइल को मान्यता देना इसका पहला काम होना चाहिये। भारत और इसराइल मिलकर इसलाम से क्रूरता को दूर कर

उसका परिष्कार कर सकते हैं। भारतीय जनता और बुद्धिजीवियों का, विशेष कर हमारे पत्रकार बन्धुओं का यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वे अपनी सरकार को इसराइल को मान्यता देने के लिये बाध्य करें। यह जरूरी नहीं है कि चीन को मान्यता देने में अमेरिका ने जो गलती की, उसीको हम इसराइल के मामले में दोहरावें। मिश्र और ईरान इसलाम के आविर्भाव के पूर्व महान् देश रहे हैं। इनको पुनः महान् बनाने के लिये अपने पुराने स्वरूप के अवबोध की अपेक्षा है। सिन्धु घाटी की सभ्यता और अवेस्ता के माध्यम से भी इनके साथ भावात्मक एकता स्थापित होनी चाहिये, केवल इसलाम के माध्यम से नहीं। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों को भी केवल बुद्ध का नहीं, किन्तु शिव-विष्णु, राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर और महात्मा गांधी का बिन-सम्प्रदाय का भारत ही नई प्रेरणा दे सकता है।

पंचशील के आधार पर तटस्थ राष्ट्रों का तृतीय गुट बनाने का हमने प्रयत्न किया था। अभी हमने देखा कि बंगलादेश के प्रश्न पर उन तथाकथित तटस्थ राष्ट्रों को हम अपने प्रति तटस्थ भी न रख सके। निर्बल व्यक्ति की क्षमा के समान निर्बल राष्ट्र की तटस्थता का भी कोई अर्थ नहीं है। रूस से सुरक्षा सन्धि कर इस दिशा में हमने नया पग उठाया है। त्याग और तपस्या (कठोर श्रम) से ही देश सबल हो सकता है। किसी समय का सबसे ऊँचे नैतिकता के सिद्धान्तों का धनी यह देश आज इस मामले में भी सब से गरीब है। त्याग और तपस्या की जिनसे सबसे अधिक आशा की जा सकती है, वे आज अर्थलोलुपता, अकर्मण्यता, संकीर्णता, मिथ्या आडम्बर आदि के केन्द्र बने हुए हैं। इन स्थानों में बौद्ध मठीय संस्कृति का "भोगश्च मोक्षश्च" वाला सिद्धान्त आज भी अपनी जड़ जमाये हुए हैं। उपनिषद् के त्याग, महावीर की तपस्या, बुद्ध की परदुःखकातरता, सिद्ध, सन्त, साधु और फकीरों की विश्वबन्धुत्व की भावना, गुरुओं के बलिदान और ईसाई मिशनरियों की सेवाभावना के सिद्धान्त जब इस राष्ट्र के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में पूरी तरह से प्रविष्ट होंगे, तभी यह देश पुनः महान् बनेगा और तब विश्व की कोई भी शक्ति भारत को शान्ति का संदेश सुनाने से रोक न सकेगी। तृतीय गुट बनाने अथवा विश्व की तीसरी शक्ति के रूप में उभरने के बजाय भारत का गौरव इसमें है कि वह दुनिया को एक गुट, एक विश्व और एक संस्कृति की छत्रछाया में इकट्ठा कर भावी युद्ध की बिभीषिका से इसको बचा सके। सांस्कृतिक नव-चेतना के अरुणोदय की बेला में इस पुनीत यज्ञ की पुरोधा भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी का हम अभिनन्दन करते हैं॥

इक्कीसवीं सदी में जाने से पहले

चांद और सूरज के उदय-अस्त के साथ जुड़ी काल की गति को हम रोक नहीं सकते। बिजली की सीढ़ी जैसे अपने आप व्यक्ति को गन्तव्य तक पहुँचा देती है, वैसे ही कालचक्र हमें इक्कीसवीं सदी में अपने आप पहुँचा देगा। इस तरह से मोटे तौर पर हम देखें तो गरीबी हटाओ के नारे के बाद यह दूसरी पीढ़ी का चतुराई से भरा नारा है। योगसूत्रकार महर्षि पंतजलि ने चित्त की वृत्तियों में विकल्प को भी गिना है और उसका लक्षण—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" बताया है। लुभावने नारों को सुनकर आदमी गद्‌गद हो हो उठता है। यह विकल्प की ही शक्ति है। आज के राजनेता पतंजलि को बिना पढे ही विकल्प की इस शक्ति को पहचानते हैं और उसको अपने हक में ढालते रहते हैं।

बुद्धिजीवी नाम का एक नया प्राणी आजकल उभरा है। यह भी अपने करिश्मे दिखाने में किसी सिद्ध महात्मा से कम नहीं है। आजकल का हर एक राजनेता अपने चमचों की सहायता से इन प्राणियों को अपने इर्द-गिर्द ज्यादा से ज्यादा संख्या में जुटाने में लगा रहता है। इनके दबदबे में आकर हम यह भूल जाते हैं कि करिश्मा एक अलोकतान्त्रिक शब्द है। जनतन्त्र किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं है, वह तो सामूहिक सम्पत्ति है। एक व्यक्ति का करिश्मा जनतन्त्र की रक्षा नहीं कर सकता, वह तो उसको अधिनायकवाद और वंशवाद की ओर ही ले जा सकता है।

'जय हिन्द' एक सही नारा था और 'जय जवान, जय किसान' भी। इक्कीसवीं सदी में जाने का नारा भी सही हो सकता है, यदि हम ठीक दिशा में सोचें। जिसने यह नारा दिया है, वह इस ओर नहीं बढ़ रहा है। उसने तो सातवीं सदी की ओर देश को ढकेल दिया है। उन दिनों एक असहिष्णु संस्कृति ने डग भरा था। आज भी खोमेनी के ईरान तथा गद्दाफी के लीबिया में उसकी झलक देखी जा सकती है। जो मनोवृत्ति आज फ्रेंच और अंग्रेजी भाषा की पुस्तकों को जला रही है, उसी ने कभी बिहार के समृद्ध पुस्तकालयों को राख का ढेर बना दिया था। अपने मूल बतन से उजाड़े गये पारसी यहाँ दूध में चीनी की तरह घुलमिल गये हैं, वहीं इस आक्रामक संस्कृति ने देश के तीन टुकड़े कर दिये। इस असहिष्णु मनोवृत्ति को हवा देने से देश इक्कीसवीं

सदी में भी सुख-चैन से नहीं रह सकेगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि इस तरह की वोट-बटोरू मनोवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिये सभी राजनीतिक दल मिल-बैठकर आचार संहिता बना लें। बहुमत को धर्मनिरपेक्ष बनने की तथा अल्पमत को अपनी डफली अलग से बजाने देने की सलाह कभी सही नहीं मानी जा सकती।

कम्प्यूटर के जिम्मे अपनी अक्ल को गिरवी रखकर की गई उन्नति अमीर को और अमीर तथा गरीब को और गरीब बना देगी, जैसा कि अब तक हुआ है। तिलक और दहेज के भंवर में पहले से बुरी तरह से फंसा भारतीय समाज आज भ्रष्टाचार और काले धन के सागर में आकंठ डूब चुका है। अध्यात्मशून्य आज की भौतिक प्रगति उसको किसी भी समय रसातल में पहुँचा सकती है।

हजरत मुहम्मद साहब तथा आचार्य शंकर भगवत्पाद प्रायः समसामयिक माने जाते हैं। मुहम्मद साहब का भाई चारे का संदेश आधी दुनिया में फैल गया। इसके विपरीत किसी समय ईरान-मेसोपोटानिया (इराक) से लेकर चीन-जापान तक फैली भारतीय संस्कृति अपने मूल देश को भी खंडित होने से बचा न सकी। इसके कारणों की हमें खोज करनी होगी।

सभी पूर्वाचार्यों के प्रति पूरा आदरभाव रखते हुए हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि बादरायण ब्रह्मसूत्र के दो स्थल इसके लिये जिम्मेदार हैं। उनमें से पहला है अपशूद्राधिकरण और दूसरा है तर्कपाद। अपशूद्राधिकरण ने शूद्रों के अधिकारों को सीमित कर दिया, जबकि तर्कपाद ने सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन और पाशुपत-पांचरात्र मतों को अवैदिक करार दिया। इससे सांख्य-योग, पांचरात्र-पाशुपत और बौद्ध-जैन दृष्टियों के माध्यम से भारतीय समाज में जो उदारवादी दृष्टिकोण पनप रहा था, उसमें रुकावट पैदा हो गई। ब्रह्मसूत्र के व्याख्याता प्रायः सभी आचार्यों ने उपनिषद् और भगवद्गीता के विश्वजनीन दृष्टिकोण की उपेक्षा कर दी, इसके विपरीत दक्षिण और उत्तर भारत के सन्तों ने उस उदारवादी दृष्टिकोण की अलख जगाये रखी। हमारा यह दुर्भाग्य है कि आज हमारी वाणी में तो सन्तों के उपदेश बसे हुए हैं, किन्तु व्यवहार में हम पूरी तरह से ब्रह्मसूत्र के उक्त अंशों का अनुसरण करते हैं।

आजकल यह कहना फैशन सा बन गया है कि भारतवर्ष से बौद्ध धर्म उच्छिन्न हो गया। सचाई तो यह है कि अपनी सभी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ वह अब भी यहाँ बना हुआ है। आज उसका रूप बदल गया है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य भास्कर शंकराचार्य के मायावाद को महायानिक-बौद्ध-गाथित

मानते हैं और आचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य पद्मपाद भास्कर को क्षपणक-(जैन)पादावनत-शिरोबिम्ब विशेषण से अलंकृत करते हैं। भट्ट कुमारिल का कहना है कि भर्तृमित्र आदि आचार्यों ने मीमांसाशास्त्र को लोकायतिक बना दिया। इस तरह की उक्तियों का केवल एक ही अभिप्राय निकाला जा सकता है कि परस्परविरोधी दृष्टिकोणों का भी यहाँ पूरी स्वतन्त्रता के साथ विकास हुआ है, पर्याप्त गंभीरता एवं सहानुभूति के साथ उन पर विचार-विमर्श होता रहा है और उनके ग्राह्य अंशों को निःसंकोच स्वीकार किया जाता रहा है। आदान-प्रदान की निरन्तर चलने वाली इस उदारवादी प्रक्रिया का ही नाम भारतीय संस्कृति है।

यदि हमें पूरी गंभीरता के साथ इक्कीसवीं सदी में पदार्पण करना है, तो पूरी ईमानदारी के साथ ग्यारहवीं शताब्दी की उन परिस्थितियों पर विचार करना पड़ेगा, जिनके चलते देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ता चला गया। भारतीय संस्कृति ने चार पुरुषार्थों की कल्पना की है, किन्तु उस समय धर्म और मोक्ष के क्षेत्र में भी अर्थ और काम का आधिपत्य हो चुका था। आज भी अनेक क्षेत्रों में "भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" वाले सिद्धान्त को धार्मिक और दार्शनिक मान्यता मिली हुई है।

आगम और तन्त्रशास्त्र ने ही नहीं, महाभारत और पुराणों ने भी चारों वेदों के अध्येता दंभी ब्राह्मण की अपेक्षा सरल स्वभाव के चाण्डाल को अधिक महत्त्व दिया है। सिद्धों और सन्तों की परम्परा में इसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। गीता के उपदेश के अनुसार जन्म (जाति) की अपेक्षा यदि हम गुण और कर्म को वरीयता दें, ऊँच-नीच की दृष्टि को छोड़ सकें, तो देश समतादृष्टि की ओर, "वसुधैव कुटुम्बकम्" में निहित भावना की ओर, सही माने में बढ़ सकता है। इसके विपरीत नैतिकताविहीन कोरी आर्थिक उन्नति देश को घोर भौतिकता की ओर ढकेल देगी॥

●

धर्मनिरपेक्षता एक अवांछनीय शब्द

भारतीय मनीषियों की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की अवधारणा अतिप्राचीन होते हुए भी चिरनवीन है, किन्तु धर्मनिरपेक्ष भारतीय शासन ने इनमें से प्रथम पुरुषार्थ (धर्म) को तिलांजलि दे दी है और अध्यात्म के ठेकेदारों ने मोक्ष को केवल उत्कृष्ट ज्ञानियों और महायोगियों के लिये ही सुरक्षित कर दिया है। दसवीं सदी के बाद भारतीय चिन्तन की मौलिकता तो समाप्त होती ही चली गई, हमारे अनुवाद में भी कितना भौंड़ापन आ गया, इसका उत्कृष्ट उदाहरण यह धर्मनिरपेक्षता शब्द है। सेक्युलर स्टेट का अनुवाद जिन्होंने धर्मनिरपेक्ष राज्य किया है, लगता है धर्म शब्द की भारतीय आत्मा को पहचानने की उनकी शक्ति को पाश्चात्य प्रभाव ने कुंठित कर दिया था। धर्म और संप्रदाय ये दोनों भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अत्यन्त पवित्र शब्द हैं। इनको देश और काल के प्रभाव से अछूता रख 'सेक्युलर' शब्द के अनुवाद के रूप में नये शब्द की खोज होनी चाहिये।

महाभारत के महान् यशस्वी पात्र विदुर ने धर्म के आठ अंग बताये हैं— इज्या (यज्ञ-याग, पूजा आदि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, दया, क्षमा और अलोभ। उनका कहना है कि इनमें से प्रथम चार अंगों का आचरण मात्र दिखावे के लिये भी हो सकता है, किन्तु अन्तिम चार अंगों का आचरण करने वाला महान् आत्मा बन जाता है। आगम-तन्त्रशास्त्र में पूजा के आन्तर और बाह्य दो प्रकार बताये गये हैं और बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर (मन) शुद्धि पर अधिक जोर दिया है। हमें मानव मन की शुद्धि के लिये बाह्य आडंबरों को छोड़ कर धर्म के इस आन्तर स्वरूप पर अधिक जोर देना चाहिये, जिसके आचरण से प्रत्येक मानव मोक्ष का भी अधिकारी बन सकता है। योगभाष्यकार (२।१५) का कहना है कि चिकित्साशास्त्र के समान योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह है। जैसे चिकित्साशास्त्र रोग के स्वरूप और उसके कारणों की परीक्षा कर मनुष्य के शरीर को स्वस्थ करता है, उसी तरह से योगशास्त्र भी दुःख के स्वरूप और उसके कारणों की समीक्षा कर मानव मन को उससे छुटकारा दिलाता है। महात्मा बुद्ध ने इस तथ्य का साक्षात्कार चार आर्य सत्य के रूप में किया था और तीर्थंकर महावीर ने हमें अहिंसा आदि पांच महाव्रतों की शिक्षा दी थी। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को नये आयाम दिये हैं।

इन महापुरुषों के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने पर ही मानव जाति दुःखों से छुटकारा पा सकती है। महाकरुणा से प्रेरित बुद्धदेव ने निर्वाण मार्ग का परित्याग कर दिया था। स्वामी करपात्री जी महाराज रन्तिदेव की एक उक्ति का उदाहरण दिया करते थे कि मुझे पृथ्वी का राज्य नहीं चाहिये, न मुझे स्वर्ग चाहिये और न मैं मोक्ष की ही कामना करता हूँ। मैं तो मात्र यह चाहता हूँ कि सभी दुःखी प्राणियों का दुःख दूर हो जाय। योगी अरविन्द की कामना है कि मानव मन एक न एक दिन इस स्थिति को अवश्य प्राप्त कर लेगा। श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज अखण्ड महायोग को इस ओर बढ़ने के उपाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मानव जाति आज धर्म, भाषा, राज्य, राष्ट्र आदि के नाम पर अनेक टुकड़ों में बंटी हुई है। कर्मकाण्ड के आधार पर हमने भारतीय ज्ञान को भी वैदिक, बौद्ध, जैन, तान्त्रिक, पौराणिक जैसे टुकड़ों में बाँट दिया हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अनलहक" जैसे वाक्य शास्त्रों की शोभा अवश्य बढ़ा रहे हैं, किन्तु हमारे जीवन पर इनका रंचमात्र भी प्रभाव नहीं है। जब तक इन टुकड़ों से हम अपना पिण्ड नहीं छुड़ा लेते, तब तक यह प्रभाव हमारे ऊपर पड़ने वाला भी नहीं है।

गुरुशिष्यपरम्परा के द्वारा निरन्तर प्रवाहित हो रही ज्ञान की धारा को शास्त्रों में सम्प्रदाय शब्द से कहा गया है। नाम और रूप का भेद होते हुए भी इन सबका गन्तव्य एक ही है। अपनी रुचि के अनुसार किसी एक मार्ग का अनुसरण कर व्यक्ति अपनी यात्रा आरंभ कर सकता है, किन्तु ज्ञान की यह धारा बाह्य आडंबरों से आई रेती के कारण सूखती नज़र आ रही है। इसका कारण है पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति का अन्धानुकरण। भगवद्गीता का कहना है—"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"। यह सही है कि इस पवित्र ज्ञान को कहीं से भी प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु इसको प्राप्त करने से पहले बहुत सावधानी से हमें देखना होगा कि कहीं हम मृगमरीचिका के पीछे तो नहीं दौड़ रहे हैं। इसके लिये यह बहुत जरूरी है कि इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने से पहले हम ग्यारहवीं सदी की उन परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर लें, जिनके चलते यह देश लम्बे समय के लिये पराधीनता की बेड़ी से जकड़ दिया गया।

हम धर्म, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद जैसे विषयों को लें। तान्त्रिक धर्म ने वर्ण, जाति और लिंग के भेद को अस्वीकार कर पूरी मानव जाति को मोक्ष का अधिकारी माना था तथा धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर अधिक जोर दिया था। अवतारों के माध्यम से विभिन्न मतवादों में समन्वय का भी

प्रयत्न किया गया, किन्तु दसवीं सदी के साहित्य, दर्शन और आगम-तन्त्रशास्त्र के महान् कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त के बाद यह दृष्टि शिथिल होने लगी और बुद्ध एवं महावीर के साथ जब भारतीय मन एकरस न हो सका, तो कबीर, रविदास, नानक, दादूदयाल जैसे सन्तों की तो बात ही कहा उठती है। हां हमने सबके नाम से अपने-अपने घरौंदे अवश्य बना लिये हैं। इसी संकीर्णता के कारण देश तीन टुकड़ों में बँट चुका है और आगे फिर बँटने की तैयारी चल रही है। यूरोप अनेक छोटे-मोटे टुकड़ों में बँटा हुआ है। वह दूसरे देशों को भी इसी शक्ल में देखना चाहता है। हमें अपनी धार्मिक विशालता के अनुरूप एक एकताबद्ध विश्व की कल्पना को साकार करने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह तभी सम्भव है, जब हम अपने साहित्य को ग्यारहवीं सदी के साथ जोड़ कर मौलिक रूप से उसे आगे बढ़ावें। महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल ने यह प्रयास किया था। इस प्रयास की अन्तिम कड़ी विश्वनाथप्रसाद मिश्र थे। आज जिस भाषा को हम राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं, उसका प्राचीनता से सम्बन्ध टूट चुका है, जब कि अन्य भारतीय भाषाओं ने ऐसा नहीं होने दिया। पाश्चात्य अन्धानुकरण ही हिन्दी भाषा की दुर्दशा का बहुत बड़ा कारण है। साहित्य की ही तरह हमारे दर्शन के क्षेत्र की भी लगभग यही स्थिति है। साहित्य और दर्शन की अपेक्षा संगीत, नृत्य और चित्रकला के क्षेत्र में हमने अपनी मौलिकता बहुत कुछ बनाये रखी थी, किन्तु अब उधर भी खतरा नजर आ रहा है। ज्योतिष और आयुर्वेद शुद्ध वैज्ञानिक विषय हैं। इन क्षेत्रों में आधुनिक विज्ञान ने जो उन्नति की, उसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु ग्यारहवीं सदी तक विकसित भारतीय ज्योतिष विद्या और आयुर्वेद की चिकित्सा-पद्धति एवं रस-रसायन विद्या के परिप्रेक्ष्य में इन विषयों का अध्ययन अपेक्षित है। आज इनकी दो पद्धतियाँ चल पड़ी हैं। इनका परस्पर एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक विकास के बावजूद भारतीय ज्योतिष और आयुर्वेद की अपनी कुछ मौलिकताएँ हैं। उनके विकास का प्रयत्न होना चाहिये और उनकी रक्षा करते हुए ही हमें आधुनिक चिन्तन के ग्राह्य पक्षों का संग्रह करना चाहिये।

दसवीं-ग्यारहवीं सदी के महान् नैयायिक आचार्य उदयन ने अनेक उदाहरणों के सहारे ह्रासवाद का समर्थन किया था। कलि-काल के दारुण वर्णनों से भयभीत भारतीय मानसिकता इस विचार से आज भी पूरी तरह से छुटकारा नहीं पा सकी है, जबकि विकासवाद के उद्भावक पाश्चात्य जगत् ने

विविध क्षेत्रों में असीम उन्नति कर ली है। नेत्रतन्त्र (मृत्युञ्जयभट्टारक) का कहना है कि भगवान् शिव के साम्राज्य में कृत, त्रेता आदि युगों की प्रवृत्ति नहीं होती। इस शास्त्रीय वचन के आधार पर हमें कलिकाल की अर्गला से अवरुद्ध अपनी मानसिकता के विकास को नया आयाम देना चाहिये। तभी हम आध्यात्मिक उन्नति की ओर आगे बढ़ सकेंगे।

जातिवाद और ब्राह्मणवाद के खिलाफ आवाज बुलन्द करने वाली आज की वोट-बटोरू राजनीति मुसलमान, सवर्ण और असवर्ण आदि भेदों को बढ़ावा दे रही है। मानवतावादी दृष्टिकोण के विकास की बात तो दूर, एक अखण्ड भारतीयता को भी विकसित नहीं होने दिया जा रहा है। विद्या के पवित्र मन्दिरों में अपने पालतू मुर्गों को बैठा कर ये वहाँ के वातावरण में भी जहर घोल रहे हैं। इन तथाकथित राजनेताओं के ही चलते अनेक तान्त्रिक योगी पनपने लगे हैं। कुछ पत्रकार भी इन तान्त्रिक गुरुओं को बढ़ावा देने में पीछे नहीं हैं। वैदिक कर्मकाण्ड को तो हम भुला बैठे हैं, किन्तु तान्त्रिक कर्मकाण्ड की बड़ी चाव से चर्चा की जाती है। हमें इस बात को पूरी तरह से याद रखना चाहिये कि ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में आज की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और कर्मठ तान्त्रिक इस देश में विद्यमान थे, किन्तु उनके देखते ही देखते यह देश पराधीन हो गया। तान्त्रिक कर्मकाण्ड हमको पाँच हजार वर्ष पीछे ले जायगा और वह हमको सामान्य मानवीय मूल्यों से भी वंचित कर देगा। घृणा, द्वेष और क्रूरता किसी देश या जाति को आगे नहीं बढ़ा सकती।

यदि हमें ईमानदारी से धर्म के आन्तरिक स्वरूप को समझना है, तो सभी मतों के विरोधी कर्मकाण्डों को छोड़कर राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, जरथुष्ट्र, ईसामसीह, हजरत मुहम्मद तथा सन्तों और गुरुओं के उन उपदेशों का सार संगृहीत करना होगा, जो मानव मन का विस्तार कर मनुष्य को मनुष्य बना सकता है। तभी हम स्वयं भी शान्ति से रह सकेंगे और पूरी मानवता को भी शान्ति का संदेश सुना पावेंगे॥

समाजवादी संस्कृति और उसके नाम पाँच पत्र

समाजवादी संस्कृति

आज से १२ वर्ष पहले आदरणीय प्रोफेसर मुकुटबिहारी लाल के ग्रन्थ "आचार्य नरेन्द्रदेव : युग और नेतृत्व" से हमने आचार्य नरेन्द्रदेव के संस्कृति से सम्बद्ध विचारों को इस प्रकार संकलित किया था—

भारतीय समाजवाद के प्रवर्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति और समाजवाद में सुन्दर समन्वय स्थापित किया था। उनका कहना था कि संस्कृति[1] चित्तभूमि की खेती है। व्यक्तियों के चित्त के साथ-साथ लोकचित्त के कार्यक्षेत्र का विस्तार आवश्यक है। लोकचित्त का राष्ट्रचित्त में और विश्वचित्त का विश्वसंस्कृति के रूप में विकास अभिप्रेत है। जीवन और संस्कृति दोनों परिवर्तनशील हैं। कालप्रवाह से जीर्ण और अनुपयोगी पुराने विचारों के परित्याग के साथ श्रैणिक नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का बहिष्कार तथा समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का अनादर अनुचित होगा। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करें, उसके जीवनपूर्ण तत्त्वों की रक्षा करें और आधुनिक विचारों से उनका सामंजस्य स्थापित कर नव संस्कृति का निर्माण करें। आदान-प्रदान से ही संस्कृतियाँ सम्पुष्ट और ऐश्वर्यमय हो सकती हैं।

भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा तत्त्व विभिन्न जीवन प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी, विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति", "वसुधैव कुटुम्बकम्" इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं। एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हीं को हम व्यक्तिगत मानस और लोक-मानस कह सकते हैं।

---

१. "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध." (१।२) इस योगसूत्र के अनुसार योगशास्त्र भी एक प्रकार से चित्तभूमि की खेती ही है।

व्यक्ति और समष्टि में सामंजस्य युग की माँग है। मानव की उन्नति के लिये व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समष्टि-भावना दोनों आवश्यक हैं। भारतीय विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित समत्व, कर्मयोग, विश्वभावना, लोकहित तथा शील के विचारों का अर्वाचीन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र, समाजवाद और इतिहास की वैज्ञानिक व्यवस्था से समयोग अपेक्षित है। इसके लिये अपने शास्त्रों के साथ अर्वाचीन विद्वानों के लोकतन्त्र, देशबन्धुत्व, विश्वसहयोग तथा समताराज्य सम्बन्धी विचारों का भी विवेचनात्मक अध्ययन होना चाहिये। अपनी संस्कृति के कालविपरीत तत्त्वों का परित्याग कर उसके युगानुरूप कल्याणकारी तत्त्वों का संरक्षण और परिवर्धन करना साथ ही अर्वाचीन विचारकों के हानिकारक सिद्धान्तों और परिपाटियों की यथोचित समीक्षा करते हुए उनके लाभप्रद प्रगतिशील विचारों का परिग्रहण करना युग की माँग है।

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्धयाऽथ रूपद्रव्येण वा पुनः॥

महाभारत शान्तिपर्व में गणराज्य के प्रकरण में कही गई ये दोनों बातें अर्वाचीन विद्वानों को स्वीकार हैं। वे प्रत्येक जाति, कुल और व्यक्ति की समानता को स्वीकार करते हुए उद्योग और बुद्धि की क्षमता की विभिन्नता को स्वीकार करते हैं और चाहते हैं कि क्षमता, कर्तव्यपरायणता और सद्व्यवहार ही जनविश्वास तथा पदों पर नियुक्तियों का आधार हो। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) और उसे जिस किसी से ग्रहण किया जा सकता है।

हमारे पूर्वजों ने हमारे सामने "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श प्रस्तुत किया है। इस आदर्श को जीवन में आत्मसात् करना हमारा कर्तव्य है। यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों, प्रजातियों तथा जातियों में विभाजित मानव समाज में भ्रातृत्व का अनुभव कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम सम्पूर्ण हिन्दू समाज तथा भारतीय समाज में बन्धुत्व और आत्मीयता का अनुभव न करें। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है कि देशबन्धुत्व को आत्मसात् किये बिना विश्वबन्धुत्व की उपलब्धि असम्भव है। देशबन्धुत्व और समता पर आश्रित राष्ट्रीयता ही भारतीय गणतन्त्र को संघबद्ध तथा सबल कर सकती है, विभिन्न जातियों, जनजातियों और सम्प्रदायों से सम्बद्ध सज्जनों में सौजन्य की वृद्धि कर सकती है तथा विश्वबन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

समता पर आधृत संस्कृति ही श्रेष्ठ मानी जा सकती है। तभी विश्वबन्धुत्व, मानवता और विश्वकल्याण की भावना को बढ़ावा मिल सकता है। निराग्रही समीक्षा तथा सर्जनात्मक समन्वय द्वारा ही यह सम्भव है। विचारवैचित्र्य से घबराने की कोई बात नहीं है। विचार-स्वातन्त्र्य चिरकाल से भारतीय संस्कृति का सद्गुण रहा है। भारतीय संस्कृति के विकास में विचार-स्वातन्त्र्य और विचार-विमर्श का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और इनके द्वारा ही इस समय भी जड़ता और संकीर्णता का परित्याग तथा सर्जनात्मक चिन्तन हमारे लिये सम्भव हो सकते हैं।

राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और समाजवाद इस युग की मुख्य मान्यताएँ हैं। इन्हें अपनाना, भारतीय संस्कृति में इनका समावेश करना नितान्त आवश्यक है। इस तरह समाजवाद भारतीय संस्कृति के दीर्घकालीन, सर्वजनीन, सजीव मूल्यों तथा तथ्यों का पाश्चात्य संस्कृति के सजीव, प्रगतिशील तत्त्वों तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों से समन्वय करता है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में समाजवाद पर आस्था रखने वाले विचारक एक ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं, जिसका मूल प्राचीन सभ्यता में होगा, जिसका रूप-रंग देशी होगा, जिसमें पुरातन सभ्यता के उत्कृष्ट अंश सुरक्षित रहेंगे और साथ-साथ उसमें ऐसे नवीन अंशों का भी समावेश होगा, जो आज जगत् में प्रगतिशील हैं और संसार के सामने एक नवीन आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं। तभी उस विश्व-संस्कृति का निर्माण हो सकेगा, जिसमें कि सभी मनुष्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दासता से मुक्त हों, सभी को मौलिक मानवाधिकार प्राप्त हों तथा सबको स्वतन्त्रता और सम्मान के साथ अपने आर्थिक अभ्युदय और सांस्कृतिक उन्नति की सुविधा प्राप्त हो, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को बराबर की जनतान्त्रिक आजादी हासिल हो, सब अन्तरराष्ट्रीय झगड़े शान्तिमय ढंग से निपटाये जा सकें और सब राष्ट्र पारस्परिक सहयोग के जरिये मानव-कल्याण में वृद्धि करें।

इतना लिखने के बाद अपनी प्रतिक्रिया हमने इस प्रकार व्यक्त की थी—

यह खेद की बात है कि भारतीय समाजवादी आन्दोलन आचार्य नरेन्द्रदेव सरीखे मानवतावादी मनीषी के उक्त विचारों का अनुवर्तन न कर सका। उनके कुछ अन्तरंग साथियों ने ही उनका अन्तिम जीवन दूभर बना दिया था। उनके कुछ दूसरे साथियों ने राजनीति से संन्यास ले लिया। किन्तु आचार्य जी अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक इन सब विपरीत परिस्थितियों से जूझते रहे और अपने सिद्धान्तों के मूल्य पर कभी भी किसी के सामने

आत्मसमर्पण नहीं किया। आज उनके कुछ अनुयायी तान्त्रिकों और बाबाओं की देहली ढोकने लगे हैं और कुछ धम्म की शरण में चले गये हैं। महात्मा गांधी और आचार्य नरेन्द्रदेव के द्वारा स्थापित मूल्यों का अनुवर्तन न कर पाने के कारण ही भारतीय गणतन्त्र ने दलतन्त्र का रूप ले लिया है। आज भारतीय राजनीतिज्ञों की देश की अपेक्षा अपने दल के प्रति अधिक गहरी भक्ति है। दूसरी तरफ तान्त्रिक धर्म की रहस्यवादी मान्यताओं के कारण धर्म और मोक्ष के क्षेत्र में भी जब छद्मवेश में अर्थ और काम ने प्रवेश पा लिया, तो सामान्य नागरिक के सामने नैतिकता का प्रश्न ही कहा रह जाता है। आभिजात्यवाद से वह दबा हुआ है। "समरथ को नहीं दोष गुसाई" की घुट्टी उसे पिलाई गई है। वह उत्पीडक को दोष न देकर अपने ही पूर्व जन्म के कृत्यों को कोसता है। भगवद्गीता में वर्णित आसुरी सम्पत्ति का सर्वत्र साम्राज्य फैला हुआ है। विश्वविद्यालय जैसी पवित्र संस्था भी इनसे अछूती नहीं है। देश में असंख्य छोटे-मोटे तानाशाह हैं। उनके आतंक से आस-पास का वातावरण भय और आशंका से भरा रहता है। हमने "शोचनीया भारतीया नैतिकता" शीर्षक संस्कृत निबन्ध में भारतीय जनमानस की इस कमजोरी पर प्रकाश डाला था कि उसकी अन्याय के प्रतीकार की शक्ति अत्यन्त प्रसुप्त है। इसी का यह परिणाम है कि दुर्योधन के औद्धत्य जैसी सभापर्व की घटनाओं को हम अनुशासन पर्व मान बैठते हैं।

हम आचार्य जी की संस्कृति की उक्त व्याख्या से पूरी तरह से सहमत हैं और १२ वर्ष बीत जाने के बाद भी अपनी उक्त प्रतिक्रिया पर भी कायम हैं। समाजवादी संस्कृति के सामने वर्तमान चुनौतियों को हम इस प्रकार वर्गीकृत करना चाहते हैं।

१. तुष्टीकरण

आज बहुसंख्यकों को उपदेश देने से वे भी बाज नहीं आते, जिनकी जड़ें भारत में हैं ही नहीं। आचार्य नरेन्द्रदेव, सन्त बिनोवा भावे और लोकनायक जयप्रकाश की सांस्कृतिक विरासत से दूर युवातुर्कों की देन है—शहाबुद्दीन। अंग्रेजों की फूट डालो नीति और कांग्रेसियों की तुष्टीकरण नीति ने देश का विभाजन करा दिया। कांग्रेस की तुष्टीकरण नीति और अल्पसंख्यकों की हठ-वादिता के कारण आई बहुसंख्यकों की हठवादिता का आज सही निदान नहीं हो पा रहा है। शाहबानो की घटना हो या सलमान रश्दी की किताब, अल्पसंख्यकों को किसी भी मूल्य पर खुश करने की नीति बरकरार है। नेताओं को भेड़ों की जो दरकार है।

मन्दिरों को तोड़कर बनाई गई मस्जिदें मध्यकालीन मानव की बर्बरता की निशानियाँ हैं। इस बर्बरता ने केवल बिहार के ही नहीं, मिस्र और मेसोपोटामिया के समृद्ध पुस्तकालयों को भी आग में झोंक दिया था। यह समृद्ध साहित्य तो अब वापस आ नहीं सकता, किन्तु अब भी किसी न किसी रूप में चली आ रही इस मध्यकालीन बर्बरता को दूर करने का एक ही उपाय है कि इसकी निशानियों को, चाहे वह एक हो या अनेक, दूर कर दिया जाय। सौभाग्य से हमारे बीच नकवी जैसे समझदार आदमी हैं। बोलने की स्वतन्त्रता पर रोक लगाने की माँग किस ओर इंगित करती है।

गांधी की नकल पर कुछ कांग्रेसी नेता पाकिस्तान और कई एक लैण्डों को बना देने के बाद अब क्या करना चाहते हैं? बहुसंख्यकों की एक ही कमजोरी है, उनकी छुआछूत का दृष्टि, ऊँच-नीच की भावना। यह दृष्टि, यह भावना जब तक दूर नहीं होगी, पेट्रो-डालर और अमेरिकन डालर को देश में आने से हम रोक नहीं सकेंगे और जब तक वह रुकता नहीं है, हम एकताबद्ध भी न हो सकेंगे। गणतन्त्र किस तरह से विनष्ट हो जाते हैं, एक प्राचीन श्लोक में यह वर्णित है। इसमें बताया गया है कि अपने को ही सबसे बढ़कर मानने वाले ढेर सारे नेता जहाँ अपना-अपना महत्त्व बढ़ाने में लग जाते हैं, वह समुदाय अवश्य ही नष्ट हो जाता है। राजनीतिक दल बहुसंख्यकों को 'उपदेश' देने की प्रवृत्ति को छोड़कर यदि एकताबद्ध हो सकें, तो अच्छा हो। भारतीय संस्कृति आज की दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ संस्कृतियों में से एक है और यहाँ की अधिसंख्य जनता इन 'उपदेशक' नेताओं से अधिक सुसंस्कृत है।

२. संस्कृत की उपेक्षा

दुनियाँ की सबसे पुरानी भाषा संस्कृत और सबसे नई जुबान उर्दू को अंग्रेजी शासक एक ही तराजू के दो पलड़ों पर रख बन्दरबांट किया करते थे। उन्होंने घोषित कर दिया था कि संस्कृत पण्डितों की भाषा और उर्दू मौलबियों की जुबान है। जाने-अनजाने आज भी पण्डित, मौलवी और भारतीय प्रशासन उसी ढर्रे पर चल रहे हैं। दुनियां का प्राचीनतम साहित्य संस्कृत में सुरक्षित है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसने नई विश्वयात्रा आरम्भ की और आज पूरे विश्व में इसने अपना संमानित स्थान बना लिया है।

भाषाविज्ञान, देवतावाद, मानववंशवाद जैसे नये ज्ञान-विज्ञान को पनपाने में इसने अहम भूमिका अदा की है। दुनियां का ऐसा कोई देश नहीं होगा, जहाँ संस्कृत न पढ़ाई जाती हो अथवा उस पर अनुसन्धान न हो रहा हो।

खोमैनी का ईरान भी उनमें से एक है। प्राचीन ईरान के जरथुष्ट्र धर्म के आदि ग्रन्थ जेन्दावेस्ता की भाषा के थोड़े से हरफों को बदल देने पर वह ऋग्वेद की भाषा बन जाती है। अपने अनुयायियों के साथ इस धर्म-ग्रन्थ को भारत में शरण लेनी पड़ी और शताब्दियों से यह दूध में चीनी की मिठास घोलता हुआ यहाँ शान्ति से रह रहा है, फल-फूल रहा है। संस्कृत दुनियाँ को एकता के सूत्र में पिरोने वाली भाषा है।

इसके विपरीत उर्दू को अपनी जुबान मानने वालों ने उस देश को ही बंटवा दिया, जहाँ यह पैदा हुई थी। इसी के कारण पाकिस्तान के दो टुकड़े हो गये। आगे पाकिस्तान के कितने टुकड़े होंगे, यह भविष्य के गर्भ में है। उर्दूभाषी पाकिस्तानी मुजाहिदीन तो अपने किये पर पछता रहे होंगे, लेकिन आखीर में उर्दू को अपनी जन्मभूमि भारत में ही शरण लेनी पड़ेगी। दोष भाषा का नहीं, संस्कृति का है। वेदों को भांडों, धूर्तों और राक्षसों की रचना बताने वाले चार्वाक दर्शन के प्रवक्ता देवगुरु बृहस्पति माने जाते हैं। दूसरी वह भी संस्कृति ही है, जो अपने खिलाफ आवाज उठाने वालों के लिये मौत का फतवा जारी कर देती है। इसलाम का भाईचारे का घेरा क्या अपने तक ही सीमित नहीं है?

एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियाँ जिस भाषा को मिटा न सकीं, उस भाषा को जीवित रखने के लिये आज किसी का मुहताज होने की जरूरत नहीं है, वह अपने बलबूते और गुणवत्ता के कारण अनन्त काल तक सुरक्षित रहेगी। अपना पेट पालने के लिये कुछ लोग इसका झण्डा फहरायें, तो यह उस अमरवाणी का भद्दे मजाक के सिवाय और क्या हो सकता है? आज इन तथाकथित संस्कृत-संरक्षकों की अपेक्षा विदेशी विद्वान् अधिक मनोयोग से संस्कृत की सेवा कर रहे हैं।

३. हिन्दुत्व का दुराग्रह

'हिन्दु' शब्द हमारा अपना नहीं है। यह विदेशियों से हमें तोहफे में मिला है। किन्तु अब इससे हमें इतना मोह हो गया है कि उसे हम छोड़ना नहीं चाहते। कुछ वर्षों पहले इन पंक्तियों के लेखक ने 'हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण' शीर्षक लेख लिखा था और यह 'भारतीयकरण क्या है' इसमें भारतीयकरण को परिभाषित किया था। प्रो० बलराम मधोक को भी यह शब्द भाया था, किन्तु न जाने क्यों आज "गर्व से कहो हम हिन्दु हैं" का नारा बुलन्द होने लगा है।

संस्कृत व्याकरण में कात्यायन का एक वार्त्तिक है—"येषां च विरोधः शाश्वतिकः"। इसके उदाहरण के रूप में वहाँ 'अहिनकुलम्' और 'श्रमण-ब्राह्मणम्' जैसे शब्द दिये गये हैं। साँप और नेवले की तरह कभी श्रमण और ब्राह्मण का भी दृढ़मूल वैर रहा है, किन्तु आगम और तन्त्रशास्त्र ने इस वैरभाव को बहुत-कुछ दूर कर दिया। तन्त्र मात्र जादू-टोना, मारण-उच्चाटन तक ही सीमित रहने वाला शास्त्र नहीं है, न यह उन तान्त्रिकों का शास्त्र है, जिनके यहाँ जाकर आजकल के नेतागण नाक रगड़ते हैं और न वह तन्त्रशास्त्र है, जिसकी सिद्धियों को उपन्यास की शैली में पेश कर लोगों को भरमाया जाता है। यदि यह सब होता तो एक हजार वर्ष पहले भारत को और आज तिब्बत को पराधीनता का मुँह न देखना पड़ता। यह तो वह शास्त्र है, जिसने सिद्धों और नाथों को, आलवारों, सन्तों और गुरुओं को प्रेरणा दी; कबीर, रामानन्द, रविदास और मीरा को पैदा किया। सूफी सन्तों की प्रेरणा का स्रोत भी यही शास्त्र रहा है। यह बिना किसी भेदभाव के मानवता का ही नहीं, प्राणीमात्र का कल्याण चाहता है।

भारत में परस्परविरोधी विचारधाराओं को जोड़ने के दो तीन सफल प्रयत्न हुए हैं। उनकी अन्तिम परिणति हमें पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र के रूप में मिलती है। इसी तरह के एक और प्रयास की हमें अपेक्षा है। हिन्दु शब्द आज बौद्ध, जैन, सिख, पारसी, मुसलमान, ईसाई समुदाय को अपने में समेट पाने में असमर्थ है। आज 'श्रमणब्राह्मणम्' जैसी ही स्थिति हिन्दु-मुसलमान की हो गई है; किन्तु शैवों, वैष्णवों और भारत के अन्य अनेक सम्प्रदायों के समान हम उक्त सभी मतों को भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के रूप में मान्यता दे सकते हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म और सम्प्रदाय दोनों शब्द अतिपवित्र माने जाते हैं। आज की धर्मनिरपेक्षता ने तो भारतीय संस्कृति की जड़ें ही हिला दी हैं।

विदेशों में हम सब केवल भारतीय के रूप में पहचाने जाते हैं। पासपोर्ट में यह नहीं लिखा रहता कि वह किस धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी है। उसमें तो मात्र उसकी राष्ट्रीयता अंकित रहती है। यहाँ के सभी सम्प्रदाय जायज या नाजायज तरीकों से अपनी संख्यावृद्धि का आग्रह छोड़कर यदि शान्ति से रहना सीख लें, तो हिन्दुत्व को इस शुभ कार्य में आड़े नहीं आने देना चाहिये। भारतीयता को ही सर्वोपरि मान्यता मिलनी चाहिये।

४. धर्मनिरपेक्षता का भूत

भारतीय दर्शन और संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों को स्वीकारा गया है। इसमें धर्म का पहला स्थान है। धर्म के बिना अर्थ और काम अनियन्त्रित हो जाते हैं, जैसा कि आजकल हो रहा है। सिनेमा और टेलीविजन इसमें घी की आहुति दे रहे हैं। इन माध्यमों से समाज को सुसंस्कृत किया जा सकता है, किन्तु धर्मनिरपेक्षता हमें ऐसा नहीं करने दे रही है। स्मृतिकारों ने धर्म के लक्षण में सन्तोष, दया, क्षमा, सत्य, अस्तेय आदि उत्कृष्ट नैतिक मूल्यों का समावेश किया है। 'धर्म' शब्द 'मजहब' का वाचक न होकर उन्हीं मानवीय गुणों को अपने में समेटता है। आजकल की नैतिकता से हम इसकी कुछ मानों में तुलना कर सकते हैं, किन्तु नैतिक मूल्यों की सत्ता वर्तमान जीवन तक ही सीमित है, जब कि धर्म का सम्बन्ध इस लोक के साथ परलोक से भी है। निश्चित रूप से धर्मनिरपेक्षता समाज और व्यक्ति को उच्छृंखल बनाने के सिवाय और कुछ न कर सकेगी।

अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' के पर्याय के रूप में यह शब्द गढ़ा गया है। क्या भारतीय भाषाएँ इतनी कमजोर हो गई हैं कि एक 'सेक्युलर' शब्द के लिये 'धर्म-निरपेक्ष' जैसे दो शब्द गढ़े जाँय और ये शब्द भी ऐसे जो भारतीय संस्कृति को ही पंगु बना दें। अंग्रेजी चश्मे से भारतीय संस्कृति को देखने वालों से हम और आशा भी क्या रख सकते हैं। जहाँ तक अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' शब्द की मूल मंशा है, उसका अभिप्राय यह है कि ऐसा राज्य जो व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के परलोक सम्बन्धी विचारों में किसी तरह का दखल दिये बिना केवल उसके वर्तमान जीवन की सुख-सुविधा की चिन्ता करे। इस अभिप्राय को व्यक्त करने में 'लोकराज्य' शब्द अधिक सशक्त है।

चार्वाक दर्शन स्वर्ग, नरक, आत्मा, ईश्वर आदि की सत्ता नहीं मानता। वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को भी स्वीकार नहीं करता। आज भी न्यायालय में चश्मदीद गवाह को ही मान्यता प्राप्त है। न्यायाधीश अनुमान के सहारे कोई निर्णय नहीं कर सकता। इस दर्शन की पृष्ठभूमि में 'लोकराज्य' का अर्थ वही होगा, जो 'सेक्युलर स्टेट' से निकलता है। यह लोकराज्य वास्तव में जनता का होगा, नेताओं का नहीं। आज तो धर्म-निरपेक्षता अल्पसंख्यकों के धर्म तक सीमित है, बहुसंख्यकों के धर्म के साथ तो यह निरन्तर छेड़-छाड़ किया करती है। राष्ट्र के कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि जितना जल्दी हो सके हम इस शब्द से अपना पिण्ड छुड़ा लें और 'लोकराज्य' में पूरी भारतीय प्रजा के ऐहलौकिक कल्याण के लिये बिना किसी भेदभाव के समान नियमावली बना लें।

५. नेहरू-संस्कृति का दुष्प्रभाव

भारत को समाजवादी गणतन्त्र घोषित किया गया था, किन्तु समाजवादी भारतीय संस्कृति की रचना के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया। गांधीवादी संस्कृति की छीछालेदर तो स्वयं नेहरू ने ही कर दी थी, कम्युनिस्टों ने गांधीवाद की 'शवयात्रा' ही निकाल दी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के इन अनुयायियों ने सर्वत्र सौहार्द के स्थान पर विद्वेष को प्रश्रय दिया। पश्चिम की दो विपरीत संस्कृतियों का चश्मा चढ़ाये लोगों से ओर आशा भी क्या की जा सकती है? इस सन्दर्भ में कुछ ठोस कार्य तब होता, जब नेहरू अपने मित्र आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रति अधिक सहिष्णु और ईमानदार रहते, किन्तु नेहरू की महत्त्वाकांक्षा तथा मिथ्या-व्यामोह ने ऐसा होने नहीं दिया। उनके अन्तरराष्ट्रीय व्यामोह ने कश्मीर के प्रति उनकी दृष्टि को धुंधला कर दिया और उनकी महत्त्वाकांक्षा तिब्बत को चीन के चंगुल में जाने से रोक न सकी। शायद उनको यह आशा थी कि माओत्सेतुंग भी चीनी यात्रियों के समान उनकी शरण में आवेगा। उनका अशोक महान् बनने का सुहावना सपना बोमदिला की ऊँचाई से गिरकर चकनाचूर हो गया।

तथाकथित धर्मनिरपेक्ष समाजवादी संस्कृति के निर्माण की तरफ से आँखें मूँद कर पं० नेहरू ने दक्षिण-पूर्व एशिया के लिये बौद्ध धर्म को, पश्चिम एशिया के लिये इसलाम को और बाकी दुनिया के लिये अधकचरी खिचड़ी संस्कृति को पेश किया। उनकी डिक्शनरी में सेक्युलर शब्द का अर्थ हिन्दु धर्म से निरपेक्ष होना था। उनके इस प्रयोग की असफलता भी चीनी और पाकिस्तानी आक्रमणों के समय उजागर हो गई थी, किन्तु आज भी हमारी परराष्ट्र नीति उसी ढर्रे पर चल रही है। आभिजात्यवाद की मनोवृत्ति से घिरे हुए हमने पूरे साल नेहरू का गुणगान कर लिया है। भारतीय राजनीति में सबसे पहले असामाजिक तत्त्वों को प्रवेश दिलाने वाले आज उसके खिलाफ बोल कर अपने चरण छूने वालों की संख्या में वृद्धि करना चाहते हैं, किन्तु नेहरू की यह तीसरी सबसे बड़ी गलती थी कि आचार्य नरेन्द्रदेव सरीखे भद्र पुरुष को हराने के लिये धर्म की आड़ ही नहीं ली गई, सारे नैतिक मूल्यों को भी ताक पर रख दिया गया। आभिजात्यवाद से दबे कुछ लोग इस दोष को दूसरों के मत्थे मढ़ना चाहते हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति बुरा काम करने वाले को ही नहीं, उनको प्रेरित करने वालों अथवा उनकी ओर पीठ फेर लेने वालों को भी दोषी मानती है। पं० नेहरू के प्रधानमन्त्रित्व काल में यह घटना हुई और तब से भारतीय राजनीति में भद्र पुरुषों का प्रवेश वर्जित होता चला गया।

भौतिक दृष्टि से उन्नत हो जाने पर भी देश दिन-प्रतिदिन नैतिक पतन की ओर तेजी से बढ़ रहा है। गांधीवाद और देश की प्राचीन संस्कृति को नेस्तनाबूद करने को उतारू कुछ पार्टियाँ आजकल जो कुछ बढ़-चढ़ कर बोल रही हैं, उनका अन्धानुकरण करने वाले कुछ राजनीतिक दल कहीं एक जगह ठहर कर सोचें कि क्या अब भी समाजवादी संस्कृति के निर्माण का समय नहीं आया है ? यदि वे सोचने का प्रयत्न करेंगे तो उनको दिखाई देगा कि आचार्य नरेन्द्रदेव एक टिमटिमाता प्रकाश हमारे बीच छोड़ गये हैं। हम इस घोर अनैतिकता के अन्धकार से घिरे इस दुष्काल में उसी की सहायता से सही रास्ता निकाल सकते हैं ।।

भारतीय संस्कृति : साधक-बाधक तत्त्व

भारतीय संस्कृति का स्वरूप क्या है ? इसकी अपेक्षा हमारे सामने अहम सवाल यह है कि इसका स्वरूप कैसा होना चाहिये ? भारतीय संस्कृति के विशाल कालव्यापी स्वरूप के प्रखर व्याख्याता डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति की सात धाराओं की चर्चा की थी। उनके नाम वहाँ इस प्रकार दिये गये हैं—१. वैदिक, २. औपनिषद, ३. जैन, ४. बौद्ध, ५. पौराणिक, ६. सन्तधारा और ७. इसलाम-ईसाइयत आदि। प्रथम दो धाराओं पर उनके विचार ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे पौराणिक धारा पर लिख रहे थे। हमारा दुर्भाग्य है कि उनके ये विचार हमारे सामने पुस्तक के रूप में न आ सके। उनके इस अध्ययन का हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अभिनव भारतीय संस्कृति के निर्माण में इन सभी धाराओं का समन्वय उन्हें अभीष्ट था।

भारत में दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ एक साथ पनपती रही हैं। प्रथम रूढिवादी विचारधारा के अनुसार वेद के सिवाय बाकी सारा वाङ्मय अप्रामाणिक माना गया है जब कि दूसरी उदारवादी विचारधारा के अनुसार वेद के साथ सांख्य, योग, पांचरात्र (वैष्णव) और पाशुपत (शैव) मतों

का ही नहीं, बौद्ध और जैन दर्शनों का भी समावेश छः दर्शनों में किया गया है। आगम, तन्त्रशास्त्र और पुराण साहित्य का विकास इसी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। इसीलिये सन्त तुलसीदास ने अपने महनीय ग्रन्थ रामचरितमानस को नानापुराणनिगमागम-संमत माना है। भारतीय संस्कृति की सन्तधारा में हमें इन सब धर्मों और मत-मतान्तरों का समन्वित स्वरूप देखने को मिलता है।

किन्तु इससे हमें यह समझने की गलती नहीं कर बैठना चाहिये कि पूरे भारतीय समाज को यह स्वरूप मान्य हो गया था। वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। रामायण, महाभारत आदि में इसको नकारा नहीं गया है। अन्यथा सिक्ख सम्प्रदाय के आविर्भाव की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। श्रमण और ब्राह्मण के विद्वेष को हवा देने वालों की आज भी कोई कमी नहीं है। विगत १००-१५० वर्षों का सुधारवादी आन्दोलन भी वैदिक संस्कृति के संकीर्ण उपादानों का पोषक रहा है। कुछ अपवाद अवश्य हो सकते हैं। शैव और वैष्णव धर्म के समान जैन और बौद्ध धर्म के साथ हम पूरी तरह से समरस नहीं हो सके हैं। अब तो सिक्ख धर्म को भी अलग से मान्यता मिल चुकी है। इस पृष्ठभूमि में जब हम इसलाम और ईसाई धर्म की बात सोचते हैं, तो हमारी आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है कि क्या आज की परिस्थिति में हम एक अखण्ड भारतीय संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं ?

सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। इस विशेषता का विकास यदि हम पूरी ईमानदारी के साथ सारी भारतीय प्रजा में कर सकें, तो यह संभव है, ऐसा हमारा सोच है। धर्म की भिन्नता हमारे लिये कोई समस्या नहीं है, समस्या है विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में व्याप्त आपसी घृणा। इस घृणा को हटाने के लिये हमें भारतीय संस्कृति के बाधक और साधक तत्त्वों की समीक्षा करनी होगी। हमारी समझ में बाधक तत्त्वों की समीक्षा के बाद साधक तत्त्वों को उपस्थापित करना ठीक रहेगा।

बाधक तत्त्व

१. बौद्ध और जैन परम्परा पर उपनिषदों एवं सांख्य-योग दर्शन के तथा भागवतों और पाशुपतों की प्राचीन परम्परा के प्रभाव का तथा महाभारत और पुराण साहित्य पर शैव और वैष्णव मतों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन मतों के प्रभाव का अभी तक सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। बौद्ध मत की

और तान्त्रिक दर्शन की पूरी उपेक्षा भारतीय संस्कृति का पहला बाधक तत्त्व है।

२. धर्मान्तरण और धार्मिक हठवादिता को प्रोत्साहन देना संस्कृति का दूसरा बाधक तत्त्व है। प्रो० मुकुटबिहारी लाल ने किसी मुसलिम राजनेता को उद्धृत करते हुए लिखा है कि मुट्ठी भर पारसी सैकड़ों वर्षों से यहाँ शान्ति से रह रहे हैं। उनके सामने कोई खतरा नहीं आया, तो करोड़ों की संख्या में फैले मुसलमानों के सामने खतरा कहाँ से आने वाला है ? यह सोचने की बात है। वास्तव में इसलाम के सामने कोई खतरा नहीं है, किन्तु इसलाम धर्म की मध्यकालीन सर्वक्षार प्रवृत्ति उसका पिण्ड नहीं छोड़ रही है। वह अब भी पूरे संसार पर छा जाने का सपना देख रही है। इस प्रवृत्ति के रहते एक भारतीय संस्कृति केवल स्वप्नविलास है।

३. यूरोप अपने तो अनेक टुकड़ों में बँटा ही है, यहाँ भी उसने आर्य-द्रविड़ सरीखे अनेक विवादों को जन्म देकर अलगाव के बीच बो दिये हैं। रही-सही कमी की पूर्ति पूरे भारत में फैली ईसाई मिशनरियाँ कर रही हैं। प्राचीन भारत की बौद्ध भिक्षुओं की निःस्वार्थ सेवा-भावना से ये कोसों दूर हैं। कम्यूनिस्टों का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्गविद्वेष और हिंसा की आग को हवा दे रहा है। कम्यूनिज्म से प्रभावित भारतीय रचनाकार प्राचीन भारतीय साहित्य से पिण्ड छुड़ाकर यूरोप और अमेरिका की दौड़ में शामिल हो गये हैं। हिन्दीभाषी क्षेत्र इनमें सबसे आगे है। कबीर इनकी दृष्टि में स्वयं-स्फूर्त प्रतिभा है। इस तरह का निराधार अध्ययन संस्कृति का तीसरा बाधक तत्त्व है।

४. बाबरी मस्जिद-रामजन्म भूमि विवाद ऐसे साहित्यकारों की दृष्टि में धार्मिक प्रश्न है और धर्म को तो कम्यूनिस्ट अफीम मानते ही हैं। वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न न होकर नैतिक प्रश्न है। अन्धी धार्मिकता के नाम पर किये गये इस प्रकार के अतिक्रमणों को जब तक हटाया नहीं जायगा, तब तक हठवादिता को ही प्रश्रय मिलता जायगा और बची-खुची सहिष्णुता और समन्वय के स्रोत भी सूखते चले जायँगे। इसलाम की हठवादिता को घटाने तथा उसके भाई-चारे के क्षेत्र को बढाने का एक मात्र उपाय है—इन सब पुराने अतिक्रमणों को समाप्त करना। इसलाम का भाई-चारा क्या अपने घरौंदे तक ही सीमित रहेगा ? इस तरह की समस्याओं का समाधान न हो पाना, संस्कृति का चौथा बाधक तत्त्व है। वोट बटोरने वाली क्षुद्र राजनीति इस शुभ कार्य को नहीं होने दे रही है।

इन बाधक तत्त्वों से निजात पाने के लिये हमें ऐसे साधक तत्त्वों की खोज करनी होगी, जो पूरे भारतीय समाज को एक सुदृढ आधार दे सकें, उसे एकता के धागे में पिरो सकें।

साधक तत्त्व

१. हम देखते हैं कि संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं के क्षेत्र में पूरा राष्ट्र एकरस हो चुका है। जब बहादुरशाह 'जफर' कहता है कि मुझे दफन होने के लिये दो गज जमीन अपने वतन में न मिली, तो पूरा राष्ट्र अपने बहते हुए आँसुओं को रोक नहीं पाता। अकबर महान् और दाराशिकोह के दिखाये मार्ग से हम इस तरह की एकता की ओर आगे डग भर सकते हैं।

२. पूरे भारत में फैले पवित्र तीर्थों, नदियों, पर्वतों और सुन्दरतम प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर इस महान् देश के साथ हम पूरी तन्मयता के साथ अपनी ममता को अनायास मोड़ सकते हैं। आधुनिक इतिहास के समान हम यहाँ के मध्यकालीन और प्राचीन इतिहास के साथ भी अपना नाता जोड़ सकते हैं। वैदिक वाङ्मय और संस्कृत भाषा आज प्राचीनतम साहित्य और भाषा के रूप में पूरे विश्व में मान्य हो चुके हैं। सभी भारतीय भाषाओं में आज भी संस्कृत भाषा सर्वाधिक मान्य और व्यवहार्य है। इसका आदर करना तो हम सीख ही सकते हैं।

३. गीता कहती है कि सभी महान् विभूतियाँ और तेजस्वी व्यक्तित्व भगवान् के ही अंश हैं। इस संसार के सभी धर्म-प्रवर्तकों, आचार्यों और अवतारों के प्रति हम अपना आदरभाव प्रकट कर सकते हैं।

४. कुछ पूर्वाग्रहों को छोड़कर यदि हम पर्वों को मनावें, झगड़ा करने की मंशा के बिना उत्सवों का आयोजन करें, तो इन अवसरों पर कटुता और हिंसा का वातावरण स्वतः धीरे-धीरे समाप्त हो सकता है। मस्जिदों के पास बाजे बजाना, कुर्बानी के लिये गाय को चुनना, एक-दूसरे के खिलाफ नारेबाजी करना जैसे दुराग्रहों को हम अनायास छोड़ सकते हैं।

५. यहाँ रह रहे समुदायों में परस्पर के प्रति कुछ निराधार अथवा साधार आशंकाएँ घर करके बैठी हुई हैं। पाकिस्तान के बनने से वे और गहरा गई हैं। पाकिस्तान के और पाकिस्तानी मनोवृत्ति के रहते हुए भी हम इन आशंकाओं के निराकरण का रास्ता खोज सकें, तो अवश्य ही एक भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकता है॥

•

अपने मुसलमान भाइयों से

उत्तरप्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री मुलायमसिंह यादव साहब फरमाते हैं कि भारतीय मुसलमान डरे हुए हैं। वे डरे हुए हैं, यह इससे साबित होता है कि वे हथियारों की तलाश में हैं। बड़ा विचित्र तर्क है। भला ये क्यों डरे हुए हैं? इसका भी खुलासा होना चाहिये था। मुट्ठी भर पारसी आज से डेढ हजार वर्ष पहले इसलाम से प्रताड़ित होकर भारत में आये थे और दूध में चीनी की तरह घुलमिल कर यहाँ रह रहे हैं। टाटा और भाभा जैसी विभूतियां उनकी देन हैं। मुट्ठी भर पारसी यहाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रख कर भी भारतीयता से पूरी तरह से ओतप्रोत हैं। इसके विपरीत इस बीसवीं शताब्दी के अन्त में भी पूरी दुनिया को इसलाम के झण्डे के नीचे बटोरने का सपना देखा जा रहा है। उसी के तहत "हँस के लिया है पाकिस्तान, लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान" जैसा नारा ईजाद किया गया है। हथियारों की तलाश इस पवित्र कार्य को पूरा करने के लिये है, या यह डरे हुए आदमी की बौखलाहट है, यह सोचने की बात है।

भाइयों! सपने में टहलना छोड़ो और राजनीतिज्ञों के जाल में फंसने से अपने को बचाओ। भारतीय संस्कृति की उदारता को अपने में उतारने का प्रयत्न करो। सभी धर्मों और विचारों के प्रति सहिष्णुता इसकी सबसे बड़ी देन है। एक तरफ यह गुरु को भगवान् से भी बढ़ कर मानती है, तो दूसरी तरफ मनुष्य की तर्क-शक्ति को, मानव-प्रतिभा को भी नकारती नहीं है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि एक हजार वर्ष तक साथ-साथ रहकर भी इसलाम ने भारतीय सहिष्णुता को स्वीकार नहीं किया, उलटे उसने अन्य समाजों में भी असहिष्णुता का जहर घोल दिया है। अन्यथा सलमान रश्दी की किताब पर प्रतिबन्ध लगाने में यह देश अगुआई न करता। यह कौन नहीं जानता कि इसलाम की मध्यकालीन बर्बरता ने अनेक देशों की संस्कृतियों को बर्बाद किया है। इसको कौन नकार सकता है कि मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें बनाई गई हैं। गुजरात के राजा मूलराज के बुलावे पर उत्तरभारत से गये एक हजार विद्वानों ने सिद्धपुर में रुद्र महालय की स्थापना की थी। आज इस मन्दिर के दो कोनों पर एक-एक हाथ की मीनार बनी दिखाई पड़ती है। आपको भयमुक्त करने का रास्ता राजनीतिज्ञों के पास नहीं है, वह तो स्वयं

आपके पास ही है। कस्तूरीमृग खुशबू की खोज में भटकता रहता है। वह है अपने में निर्णय करने की स्वतन्त्र शक्ति। भारतीय बहुसंख्यक समाज अपने धर्माचार्यों की बात सुनता है, किन्तु वह वोट अपने मनचाहे व्यक्ति को ही देता है, इसके लिये किसी के फतवे की जरूरत नहीं पड़ती। वोट देने की यह स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति ही आपको भयमुक्त कर सकती है। इस स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का ही सहारा लेकर भारतीय मुसलमान भाइयों को इसलाम के नाम पर पूर्व में किये गये अतिक्रमणों से अपने को मुक्त कर लेना चाहिये। भयमुक्त होने का यही सही रास्ता है। भगवान् बुद्ध ने धम्मपद में कहा है कि बैर से बैर कभी दूर नहीं होता। भाइयों! स्वतन्त्र रूप से आप सोचें कि आपको भयमुक्त करने का नारा देने वाले ये राजनीतिज्ञ कहीं आपको गहरी अंधेरी खंदक में तो नहीं ढकेलने जा रहे हैं? खोमेनी और सद्दाम जैसे सिरफिरों को सही रास्ते पर लाने की जिम्मेदारी खुदा ने भारतीय मुसलमानों के कन्धों पर रख छोड़ी है। क्या इससे आप लोग भागेंगे॥

•

एक राष्ट्र एक संस्कृति एक भाषा

धर्म और संस्कृति के आधार पर भारत का और फिर भाषा के आधार पर पाकिस्तान का विभाजन हो जाने के बाद भी भारत में एक संस्कृति और एक भाषा के विषय में सोचने को कोई तैयार नहीं हो रहा है। भारतीय जनता पार्टी दबी जबान से एक संस्कृति की चर्चा अवश्य करती है, किन्तु भाषा के विषय में वह भी चुनावी माहौल के इर्द-गिर्द ही घूम रही है। यह देश एक हजार वर्ष पहले की अपनी चिन्तनधारा से अभी भी जुड़ नहीं पा रहा है और भारतीय संस्कृति पर अरब और पाश्चात्य देशों से हो रहे हमलों से बेखबर है। हमारे ऊपर नेहरू संस्कृति का जो नशा चढ़ा हुआ है और राम भक्तों को हिन्दू आतंकवादी बताने वाला ब्रिटिश प्रचार तन्त्र उस नशे को न उतरने देने के लिये जी-जान से जुटा हुआ है। भारतीय पत्रकारिता भी इसके चंगुल से अपने को बचा नहीं सकी है।

भारतीय संस्कृति में शब्द की अपार महिमा गाई गई है। भूः, भुवः, और स्वः शब्द से ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की सृष्टि हुई, ऐसी मान्यता उपनिषदों की है। हमारे कम्यूनिस्ट भाई तो यह भी नहीं जानते होंगे कि यह उपनिषद् क्या बला है? उसके विपरीत पूरा चिन्तनशील विश्व आज भी यह मानता है कि उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान मानवीय उत्कृष्ट विचारों का अद्भुत खजाना है। करुणा रस को उत्कृष्टतम कोटि में पहुँचा देने वाले महाकवि भवभूति का इस प्रसंग में कहना है कि सामान्य मनुष्य की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु वही अर्थ ऋषियों-मुनियों की वाणी का अनुगमन करता है, अर्थात् जैसा ये लोग कहते हैं, वैसा ही बाद में घटित हो जाता है। शब्द की इस महिमा के प्रसंग में आजकल के धर्मनिरपेक्ष शब्द को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

न मालूम किस बुरी घड़ी में 'सेक्युलर' शब्द का यह असांस्कृतिक अनुवाद किया गया, जिसने भारतीय संस्कृति की जड़ों में मट्ठा पिलाना शुरू कर दिया। चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों की व्यवस्था केवल भारतीय प्रजा के लिये ही नहीं, पूरे विश्व में सुख और शान्ति की स्थापना के लिये उपयोगी है, इस बात को पूरे आत्मविश्वास और निर्भीकता के साथ प्रचारित किया जाना था, किन्तु एक हजार वर्ष की परतन्त्रता और बाह्य संस्कृतियों की चकाचौंध के कारण भारतीय राजनीतिज्ञों में हीनभावना पूरी तरह से पैठ चुकी है और उन्होंने चार पुरुषार्थों में प्रथम धर्म को ही देश से निकाल बाहर करने में सारी ताकत लगा दी है तथा देश को अर्थ की अन्धी दौड़ में फँसा दिया है।

धर्म शब्द भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार आधुनिक सारे नैतिक गुणों का एक पुंजीभूत स्वरूप है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष का अर्थ होता है नैतिकता विहीन समाज, अर्थ का दास समाज। यह 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का ही प्रभाव है कि इस शब्द की दुहाई देने वाले राजनीतिज्ञ नैतिकताविहीन होते चले जा रहे हैं। राष्ट्र की इनको चिन्ता नहीं है, सत्ता में आने के साथ इनको यह चिन्ता सताने लगती है कि यह कुर्सी हमारे ही पास किस तरह से बनी रहे। हमने अभी-अभी इस तरह की दो राजनीतिक पार्टियों को देखा है। अपनी पूरी जोर-जबर्दस्ती और अहंमन्यता के बावजूद अब ये सत्ताच्युत कर दी गई हैं। किन्तु इतने मात्र से भारत राष्ट्र की समस्याओं का तब तक कोई समाधान नहीं हो सकता, जब तक कि इस राष्ट्र को एक संस्कृति और एक भाषा के ठोस धरातल पर खड़ा नहीं किया जाता।

इधर कुछ राजनीतिक दल विकृत धर्मनिरपेक्षता को हटाने की बात करने लगे हैं, किन्तु यह सोचने की बात है कि धर्मनिरपेक्षता तो सदा विकृत ही होती है, वह अविकृत कभी हो ही नहीं सकती। इस देश का जब तक इस शब्द से पिण्ड नहीं छूटेगा, तब तक एक संस्कृति की बात करना बेकार है। यह प्रसन्नता की बात है कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में यह शब्द प्रयुक्त नहीं होता। वहाँ 'सेक्युलर' शब्द का अनुवाद 'बिन सम्प्रदाय' किया गया है। यदि हमें भारत में एक संस्कृति की स्थापना करनी है, तो सबसे पहले हमें इस 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द से पूरे प्रचारतन्त्र को मुक्त करना होगा और 'सेक्युलर' शब्द का पर्यायवाची कोई एक नया शब्द तलाशना होगा।

भारतीय राजनीतिज्ञों की धर्मनिरपेक्षता ने सारी पुरानी मान्यताओं को तहस-नहस कर दिया है। नये आधारों की खोज हम नहीं कर पाये हैं और आयातित विचारों ने भाँति-भाँति के 'स्तानों' और 'लैण्डों' के नाम से देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिये हमें आमादा कर दिया है। एक भाषा के रूप में हिन्दी को कभी की मान्यता मिल जानी चाहिये थी, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा कल्पित आर्य और द्रविड़ विवाद ने इस कार्य को अभी तक पूरा नहीं होने दिया है। मान लिया जाय कि कभी यह विवाद हुआ था, किन्तु आज उसका क्या प्रसंग है? आज की भारतीय संस्कृति के तो प्रवक्ता शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ जैसे दक्षिण के द्रविड़ाचार्य ही हैं। दक्षिण के आलवार और नायनार, वैष्णव और शैव सन्तों के द्वारा प्रचारित उस भक्ति सम्प्रदाय का ही तो सारे भारत में विस्तार हुआ है, जिसमें कि लिंग और वर्ण का भेदभाव किये बिना "हरि को भजे सो हरि को होई" जैसे उदात्त सिद्धान्त की स्थापना हो सकी और जिसने हमें रामानन्द, कबीर, रैदास, मुक्ताबाई, मीराबाई, रहीम, दादूदयाल जैसे भक्त-सन्तों को दिया है। सूफी सन्तों और गुरु नानकदेव की परम्परा भी इससे भिन्न नहीं है। मोहनदास करमचन्द गांधी को महात्मा कहा गया और डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर को आधुनिक मनु का खिताब दिया गया, यह भी इसी परम्परा की देन है। तो क्यों हम पाश्चात्य विचारों से अभिभूत हो आज अपनी मातृ-भूमि को ही टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिये उतावले हो उठे हैं?

प्रश्न आस्था का है। एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की हमारी आस्था डगमगा गई है। हम अपनी अपार अनोखी सांस्कृतिक धरोहर को भुला बैठे हैं। आधुनिक प्रचारतन्त्र ने हमारी वही गति कर दी है, जो कि पंचतन्त्र के उस ब्राह्मण की हुई थी, जिसे गाय के बछड़े को बकरी का बच्चा

बता कर ठग लिया गया था। आज भी ब्राह्मणवाद का भूत दिखा कर भारतीय प्रजा को ठगा जा रहा है। आर्य और द्रविड़ विवाद तो कल्पना पर आधारित भी हो सकता है, किन्तु ब्राह्मणवाद और श्रमणवाद का सचमुच कभी यहाँ बोलबाला था। इसको हम नकार नहीं सकते कि ब्राह्मण और श्रमण (प्रधानतः बौद्ध और जैन) विचारधारा में एक लंबा संघर्ष छिड़ा, किन्तु साथ ही इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि यह संघर्ष विचारों का था और इसने अनेक उत्कृष्ट भारतीय मनीषियों को जन्म दिया। ये सभी भले ही वे ब्राह्मण हों, बौद्ध हों या जैन, हमारे पूर्व पुरुष हैं, वन्दनीय हैं, श्लाघनीय हैं और उन्हीं के कारण यह भारत देश आज भी विचारों के क्षेत्र में उदारता, सहिष्णुता और समन्वय की प्रक्रिया में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस प्रक्रिया को भी आज के राजनीतिज्ञ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अभिभूत हो नष्ट कर देना चाहते हैं और सर्वत्र संघर्ष के बीज बो देना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति की आगम और पुराण धारा ने इस तथाकथित ब्राह्मण और श्रमण के झगड़े को कभी का समाप्त कर दिया है और एक स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की है, जिसमें कि बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव आदि उस समय भारत में प्रचलित सभी सम्प्रदायों के उदात्त तत्त्वों का समावेश किया गया है। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन की एवं बौद्ध विज्ञानवाद की प्रत्यभिज्ञा दर्शन के रूप में नई व्याख्या प्रस्तुत की गई है और आज का सूफीवाद भी उससे प्रभावित है। यहाँ जातिवाद को, उसमें घुसी ऊँच-नीच की दृष्टि को पूरी तरह से नकार दिया गया है।

इतना सब होते हुए भी आज का प्रचारतन्त्र ब्राह्मणवाद के भूत को प्रचारित करता चला आ रहा है। भारतीय जनता पार्टी ने बाबरी मसजिद को स्थानान्तरित करने की बात कही है, गिराने की बात कभी नहीं कही। उसका हिन्दु राष्ट्र का सिद्धान्त भी केवल शब्द का झगड़ा है, उसका अभिप्राय भारत को एक राष्ट्र की मान्यता दिलाना मात्र है। इस सत्य को नकार कर इस पार्टी पर भाँति-भाँति के मिथ्या आरोप लगा कर राजनीति के क्षेत्र में इस दल को अछूत सिद्ध करने के लिये केवल विदेशी प्रचार-माध्यम और भारतीय राजनीतिज्ञ ही नहीं, भारतीय पत्रकारिता भी पूरी तरह से जुटी हुई है। स्वर्ण मन्दिर में सेना का प्रवेश श्रीमती इन्दिरा गांधी का एक सही निर्णय था और उनकी निर्मम हत्या के बाद हुए दंगे मानवीय भावनाओं का सही उबाल, किन्तु इस प्रसंग में भारतीय पत्रकारिता का बड़ा अजीब रूप सामने आया। आज भारतीय पत्रकारिता पंजाब की समस्या के लिये भारतीय

राजनीतिज्ञों को दोषी ठहराने के लिये जीजान से जुटी हुई है। काश, थोड़ा वे अपने अन्तर को भी टटोलते कि सिख भावना के आहत होने की और मरहम पट्टी की बात का प्रचार कर उन्होंने राष्ट्र की एकता को तोड़ने में कितना बड़ा योगदान किया है। भारतीय पत्र-व्यवसाय किसी न किसी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक दल या विचारधारा के हाथों बिका हुआ है। उसमें स्वतन्त्र चेतना की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस अन्धेरगर्दी में बेचारा बुद्धिजीवी किस खेत की मूली है, वह भी तो इन्हीं के हाथों की कठपुतली है।

भारत की आज की समस्याओं का समाधान करने के लिये हमें एक हजार वर्ष पहले की भारतीय चिन्तनधारा से जुड़ना होगा और कल्पित अथवा अकल्पित आर्य-द्रविड़, ब्राह्मण-श्रमण जैसे विवादों से हमें दूर रहना होगा। तभी हम आज की हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान कर पावेंगे, अन्यथा नहीं। एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की समस्या का समाधान भी हम तभी कर सकेंगे॥

•

धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानिये

धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ अंग्रेजी के 'रिलीजन' के अर्थ में किया गया है। यों हम सब जानते हैं कि भारतीय 'धर्म' शब्द में समस्त नैतिक मूल्यों का ही नहीं, धृति, क्षमा आदि उत्कृष्ट मानवीय आध्यात्मिक गुणों का भी समावेश माना जाता है। उस धर्म की चर्चा हम छोड़ देते हैं और तथाकथित राजनेताओं द्वारा बहु प्रचारित 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द में प्रयुक्त होने वाले 'धर्म' की मात्र यहाँ चर्चा करना चाहते हैं, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष ताकतों को एकजुट करने के लिये राजनीतिक नेताओं का ही नहीं, बुद्धजीवियों का भी आह्वान किया जाता है और इस तरह से अधिसंख्य भारतीय प्रजा को बरगलाने का, उसको पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न भारतीय धर्म को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी नष्ट कर देने के लिये किया जा रहा है।

हम जानते हैं कि उक्त परिभाषा के अनुसार आज भारत अनेक धर्मों का देश है। विविध धर्मों और सम्प्रदायों का अनुवर्तन करने वाली प्रजा यहाँ निवास करती है। पर प्रश्न यह है कि क्या भारत में यह स्थिति आज ही पैदा हुई है ? वस्तुतः भारत तो बहुत पहले से अनेक धर्मों और दर्शनों का देश रहा है। इनके पारस्परिक विग्रह और फिर एकजुट हो जाने के प्रयोगों को भी हमने देखा है।

ऐसा पहला महान् प्रयोग महाभारत काल में हुआ था। केवल वेदों को ही प्रमाण मान कर बाकी सभी मत-मतान्तरों (सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन, पांचरात्र-पाशुपत) को अवैदिक, अत एव अप्रमाण मान लिया गया था, किन्तु महाभारतकार ने केवल वेदों को ही नहीं, उनके स्थान पर कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेद) को समान रूप से प्रमाण माना। दूसरा प्रयोग आचार्य शंकर ने किया। प्रपंचसार के माध्यम से शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित कर इन्होंने स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की और उनकी दी हुई यह व्यवस्था आज भी कायम है।

आज भारत को पुनः उसी तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। भारत में उपजे धर्मों के अतिरिक्त बाहर से आये धर्मों में आज उसी तरह की अथवा उससे भी निकृष्ट कोटि के संघर्ष की स्थिति है। क्या इनमें सहिष्णुता के आधार पर पुनः समन्वय स्थापित करने की हमारी सामर्थ्य चुक गई है ? वास्तव में ऐसा है नहीं, किन्तु ऐसा करने से पहले हमें धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानना होगा। ऊपर बताये गये सभी धर्म या सम्प्रदाय यहाँ किसी न किसी रूप में अब भी स्थित हैं और सहिष्णुता के आधार पर समन्वय की ओर अग्रसर उदार विचारधारा भी। पहली परम्परावादिनी विचारधारा को धर्म के नाम से और दूसरी उदारवादी प्रवृत्ति को हम संस्कृति के नाम से पहिचान सकते हैं। हमने आज धर्म और संस्कृति को एक मान कर संस्कृति की पहिचान को ही समाप्त कर दिया है।

ऊपर के अर्थ में धर्म एक स्थिर तत्त्व है, जब कि संस्कृति में स्थिरता (निरन्तरता) के साथ परिवर्तनशीलता भी जुड़ी हुई है। इस तत्त्व को भारतीय संस्कृति में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। महाकवि कालिदास का कहना है कि पुराना सब कुछ अच्छा ही है और नया सब कुछ खराब ही है, ये दोनों ही बातें गलत हैं। समझदारी इसमें है कि हमें पुराने और नये विचारों को कसौटी पर कसना चाहिये। भगवान् बुद्ध का कथन है कि जैसे

सुवर्ण के खरे-खोटेपन को कसौटी पर कस कर पहिचाना जाता है, उसी तरह से मेरी बातों को भी परीक्षा के उपरान्त ही ग्रहण किया जाय। भारतीय संस्कृति के इस तत्त्व को हमें हृदयंगम करना चाहिये। समाजवादी आन्दोलन के महान् चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के इसी स्वरूप को उजागर किया था। संस्कृति के इस उदात्त तत्त्व के आधार पर ही आज हम पुनः वर्तमान काल में भारत में प्रवृत्त धर्मों में सामंजस्य बिठा सकते हैं। अधिसंख्य भारतीय प्रजा इसी दृष्टिकोण का अनुवर्तन करती है।

इस पवित्र कार्य को आज के राजनेतागण नहीं होने दे रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, नेहरूवाद और लोहियावाद से प्रभावित ये राजनेता अपनी वोट-बटोरू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भारतीय संस्कृति को ही नहीं, सामान्य नैतिकता को भी तिलांजलि देकर अल्पसंख्यकों, दलितों और अधिसंख्य भारतीय प्रजा को भीषण संघर्ष की आग में झोंक देना चाहते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि सन्तों, नाथों, सिद्धों, गुरुओं और सूफियों के उपदेशों से प्रभावित भारतीय प्रजा इनके चंगुल में नहीं फसने वाली है। एक न एक दिन यह प्रबुद्ध भारतीय प्रजा ही इन पथभ्रष्ट नेताओं को सही रास्ते पर लावेगी। प्रत्येक चुनाव में यह इन तथाकथित राजनेताओं को एक झटका देती है, किन्तु "फिसल पड़े तो हर गंगा" कह कर ये फिर अपनी फन फैला कर उठ खड़े होते हैं।

लोकसभा में धर्मस्थल विधेयक को पारित कराना और अगले ही दिन दिल्ली में वोट क्लब पर दलितों के आरक्षण के नाम पर भारतीय समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को वर्गविद्वेष की आग में झोंक देने का प्रयत्न क्या धर्म-निरपेक्षता के नाम पर भारतीय संस्कृति का हनन नहीं है? क्या हम वोट बटोरने के लिये इतने अन्धे हो गये हैं कि देश के भविष्य के विषय में सोचना ही बन्द कर दिया है? इन तथाकथित नेताओं के चलते धर्मनिरपेक्षता से हमारा पिण्ड जल्दी से छूटने वाला नहीं है। एक प्रकार से यह भारतीय संस्कृति पर बाह्य संस्कृतियों का आक्रमण है। सभी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष ताकते भारतीय धर्मों को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिये एकजुट हो गई हैं। उनको भारत के बहुसंख्यकों का धर्म दुनिया भर की सबसे निकृष्ट सभ्यता का प्रतीक प्रतीत होता है।

प्राचीन भारत की वेद को प्रमाण मानने वाली और न मानने वाली दो तरह की परम्पराओं की तरह आजकल धर्मपरिवर्तन में विश्वास करने वाली और न विश्वास करने वाली दो तरह की विचारधाराएँ स्पष्ट परिलक्षित हो

रही हैं। तथाकथित भारतीय राजनीतिज्ञ बिना सोचे-समझे, केवल अपनी स्वार्थपूर्ण राजनीति को चलाने के लिये, भारतीय धर्मों और सम्प्रदायों की समालोचना करते हैं, उससे इन प्रतिगामी धर्मपरिवर्तनवादिनी ताकतों को ही बल मिलता है, जो कि प्रच्छन्न रूप से भारतीय संस्कृति को उखाड़ फेंकने में लगी हैं। फलत: मध्यकालीन बर्बरता और अर्थलोलुपता को बढाने वाले संस्कार तीव्रगति से भारतीय प्रजा में पनपने लगे हैं।

जैसी कि अभी हमने ऊपर चर्चा की, एक अल्पसंख्यक समुदाय को सन्तुष्ट करने के लिये धर्मस्थल-विधेयक को कानून का जामा पहनाने का प्रयत्न किया गया है। यह कार्य भी धर्मनिरपेक्षता के नाम पर ही किया जा रहा है, जब कि इससे बढ़ कर धर्मसापेक्ष कार्य कोई हो ही नहीं सकता। मध्यकालीन बर्बरता के अनुयायी आक्रमणकारियों ने धर्म के नाम पर असंख्य धर्मस्थलों को विकृत कर दिया। उस विकृत मानसिकता के प्रतीक इन स्थलों की सुरक्षा के नाम पर क्या हम मानवीय उदात्त गुणों की अपेक्षा धार्मिक बर्बरता को प्रश्रय नहीं दे रहे हैं? क्या हम इस प्रकार से भारतीय संस्कृति के सहिष्णुता, समन्वय जैसे मूल उपादानों पर ही कुठाराघात नहीं कर रहे हैं?

चीनी विस्तारवाद और इसलामिक हठवाद एवं बन्दर-घुड़की का एक एक न एक दिन पूरी दुनिया को सामना करना पड़ेगा। अभी-अभी हम सबने ईरान के खोमेनी और ईराक के सद्दाम की क्रूरता को, इनके हठवाद को और बन्दर-घुड़कियों को देखा-सुना है। ईरान के खोमेनी ने सलमान रश्दी की मौत का फतवा निकाल कर विश्वव्यापी विचार-स्वातन्त्र्य पर कुठाराघात ही नहीं किया, एक पूरे समुदाय को मध्यकालीन बर्बरता की ओर ढकेलने का दुष्कृत्य भी किया है। खोमेनी की मौत के बाद भी उस काले बदनाम फतवे को अभी तक वापस नहीं लिया गया है। ऐसे ही फतवे निकालने वालों की भारत में भी कोई कमी नहीं है। अपने पड़ोसी देश कुवैत पर ईराक का दु:साहसिक हमला इसलामी हठवाद का ही एक नमूना है। उसके बहुप्रचारित फौजी दस्तों के आतंग से एक लम्बे समय तक अमेरिका जमीनी हमले से बचता रहा और जब आक्रमण हुआ, तो वे बहुप्रचारित फौजी दस्ते २-४ दिन भी नहीं टिक सके। यह इसलामिक बन्दर-घुड़की का एक अच्छा नमूना है। अमेरिका ने तो इस बन्दर-घुड़की का सामना किया और अपने जन्म के समय से ही इसराइल भी इसका जवाब दे रहा है, किन्तु भारतीय राजनीति इसलामिक बन्दर-घुड़की से सदा आतंकित रही है। कश्मीर से पूरा हिन्दू समुदाय निकाल बाहर कर दिया गया, उनके लिये आँसू बहाने वाला एक

भी राजनीतिज्ञ दूरबीन से खोजने पर भी नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु १०-२० आतंकवादी जब एक साथ पकड़ लिये जाते हैं या मुठभेड़ में मारे जाते हैं, तो इन तथाकथित राजनेताओं की नींद हराम हो जाती है। देश की रक्षा के एक स्तम्भ के रूप में अपने को प्रस्तुत करने वाले अखबारों का शोरगुल भी पाठकों को आश्चर्य में डाले बिना नहीं रहता। धर्म के नाम पर भारतीय संस्कृति का यह पराभव देश को कहाँ ले जायगा!

आधुनिक राजनेताओं की धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा के अनुसार तो, जैसा कि ऊपर बताया गया है, यह देश सदा से ही धर्मनिरपेक्ष रहा है, किन्तु एक हजार वर्ष तक साथ-साथ रहने के उपरान्त भी हम इसलाम को धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता और समन्वय का पाठ नहीं पढ़ा सके। अभी भी हमने मानव जाति के मध्यकालीन बर्बरता के इतिहास में जी रही अधिसंख्य प्रजा को इमामों, मुल्ला-मौलवियों और बन्दर-घुड़की-प्रवीण राजनेताओं के खूनी पंजों में सौंप रखा है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि वैचारिक दृष्टि से सबसे पिछड़ी हुई भारतीय प्रजा के एक अंग को सुशिक्षित किया जाय, वैचारिक संकीर्णता से उसको बाहर निकाला जाय। यह कार्य कुछ गिने-चुने धार्मिक नेताओं और राजनीतिज्ञों के साथ बैठकर चाय पीने से नहीं होगा। इसके लिये तो हमें उस समाज में अपने प्रति विश्वास जमाना होगा।

भारतीय धर्म और संस्कृति पर आज चतुर्दिक् प्रहार किये जा रहे हैं। यह सारा बखेड़ा धर्म और संस्कृति में घोलमाल कर देने से उठ खड़ा हुआ है। भारत के सभी राज्यों में अपनी-अपनी भाषा में भक्तों, सन्तों और सूफियों का विशाल साहित्य उदारवादी भारतीय संस्कृति को उजागर करता है। रामानन्द, कबीर, रैदास, ज्ञानदेव, नानकदेव, मीराबाई, नरसी मेहता आदि उस मानवतावादी भक्तिप्रधान साहित्य के प्रतिनिधि पुरोधा हैं, किन्तु इस बात को हम भूल बैठे हैं कि इन सबकी पृष्ठभूमि में आगम, पुराण, तन्त्रशास्त्र आदि का एक विशाल उदारवादी गम्भीर साहित्य-समुद्र हिलोरें ले रहा है, जिसने वैदिक-अवैदिक मतवादों में समन्वय स्थापित करने का महनीय प्रयत्न किया था। इस प्रवृत्ति ने सभी भारतीय मतवादों और धर्मों में सहिष्णुता और समन्वय को ही जन्म नहीं दिया, पूरी मानव जाति को मुक्ति का अधिकार भी दिया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी उसी उदारवादिनी भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे। आज तो हम उन्हें भी भूल बैठे हैं।

अपनी समालोचना के बिना यह लेख अधूरा रह जायगा। तन्त्रशास्त्र के "भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" इस सिद्धान्त को तो हमने स्वीकार कर लिया

है, किन्तु वहीं जब जाति की अपेक्षा चरित्र को महत्त्व दिया जाता है, तो उसकी यह बात हमारे गले तले नहीं उतरती। २०वीं शताब्दी के रजनीश भी एक जैन आचार्य हैं और तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति भी। एक संभोग से समाधि का उपदेश देते हैं, तो दूसरे सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग मानते हैं। 'सत्' की उमास्वाति की परिभाषा (उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्') भारतीय दर्शन में अन्यत्र शायद दुर्लभ है। "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" के भगवान् बुद्ध के उपदेश के बाद भी भारतीय दर्शन और उपासना पद्धति में से हम व्यक्तिवाद को हटा नहीं पाये हैं। उनकी संसार के सारे प्राणियों को दुःख से मुक्त कराने की अभिलाषा योगी अरविन्द, परमपावन दलाई लामा, म० म० पं० गोपीनाथ कविराज जैसे कुछ गिने-चुने व्यक्तियों तक ही सिमट कर रह गई है। वैदिक कर्मकाण्ड को हम भुला चुके हैं, किन्तु तान्त्रिक कर्मकाण्ड को आग्रहपूर्वक स्मरण किया जाता है, क्योंकि उसमें हमारी इन्द्रियलोलुपता को तुष्ट करने के लिये पर्याप्त उपादान हैं। यह बात सही है कि कुछ योगिक तथा तान्त्रिक विधियों का प्रायोगिक अध्ययन अपेक्षित है, किन्तु इस प्रसंग में हमें विचार यह करना होगा कि क्या ये विधियाँ मूल रूप में आज तक सुरक्षित हैं? वैदिक विधियों के समान ही इनमें से अधिकांश लुप्त ही नहीं हुई, जो कुछ बची हैं, उनमें से भी बहुत सी अब कालातीत भी हो गई हैं।

सिद्धियों और चमत्कारों से दूर रहने के भगवान् बुद्ध के उपदेश को हम भुला बैठे हैं। योगसूत्रकार महामुनि पतंजलि ने भी सिद्धियों को समाधि के लिये अन्तराय (विघ्न) माना है। फिर ये सिद्धियां सामान्य जन की सम्पत्ति कभी नहीं बन पाई हैं। श्रद्धेय कविराज जी के गुरु के पास जो सिद्धियां थीं, वे उनमें संक्रान्त न हो सकीं। वे बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि मुझे दीक्षा देने का अधिकार नहीं मिला है। उनकी यह स्पष्टोक्ति, उनका यह निर्मल, निश्छल भाव ही हमारी समझ में भारतीय संस्कृति का निचोड़ है। उनका अखण्ड महायोग अखिल विश्व के साथ तन्मयता का, निर्विकार प्रेमभाव का उद्भावक है। हम तन्त्रशास्त्र की पद्धति से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इसको पा सकते हैं। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त और बौद्ध धाराओं में शास्त्र और गुरु की अपेक्षा प्रातिभ ज्ञान को वरीयता दी गयी है। विविध कर्मकाण्डों की अपेक्षा उसने चित्त की प्रभास्वरता (निर्मलता) पर अधिक जोर दिया है। आज हम सभी धर्मों की अच्छाइयों को भूल बैठे हैं और कुछ रूढ़िवादी तत्त्वों से चिपके हुए हैं। अखण्ड भारतीय संस्कृति ही अब हमारा उद्धार कर सकती है।

इसके लिये हमें पं० नेहरू और लोहिया का अधकचरा मार्ग छोड़ कर काशी के डॉ० भगवानुदास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, प्रोफेसर मुकुटबिहारी लाल और प्रो० राजाराम शास्त्री द्वारा की गई भारतीय संस्कृति की व्याख्या का अनुसरण करना होगा। सबसे पहले हमें धर्मनिरपेक्ष शब्द से अपना पिण्ड छुड़ाना होगा। इसके स्थान पर हम सम्प्रदाय-निरपेक्ष शब्द का प्रयोग करें, तो यह अपेक्षाकृत कुछ सही होगा। दूरदर्शन ने अभी एक मान्य जैन मुनि को इस शब्द का प्रयोग करने की छूट दी। इसके लिये हम उसके शुक्रगुजार हैं। वास्तव में गुजरात और महाराष्ट्र के अखबारों में सम्प्रदाय-निरपेक्ष शब्द ही प्रयुक्त होता है, धर्मनिरपेक्ष नहीं। धर्मनिरपेक्ष शब्द का तो अब मात्र इतना अभिप्राय रह गया है कि यह सरकार भारत के सभी प्राचीन धर्मों और संस्कृति से निरपेक्ष है और मात्र कुछ आक्रमणशील धर्मों से ही इस देश का उद्धार हो सकता है, ऐसा मान बैठी है। धर्मनिरपेक्ष शब्द पर अल्पसंख्यक समुदाय का तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग क्यों फिदा है, इसका रहस्य भी इसी में छिपा है। अब तो इनकी बन्दर-घुड़कियों में आकर सरकार ने धर्मनिरपेक्ष सुरक्षा दल के संगठन का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया है। हमारा यह निश्चित मत है कि जब तक इस देश के राजनेतागण धर्म और संस्कृति के अन्तर को सही रूप से नहीं पहिचानेंगे, तब तक हम पंजाब, कश्मीर, असम और तमिलनाडु की बिलगाववादी प्रवृत्तियों का और भारत की अन्य समस्याओं का सही निदान और उनका उपचार करने में पूरी तरह से असफल होंगे॥

●

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

(मनु० ८।९२)